प्रवंचिता

सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश'

प्रवंचिता

(महाकाव्य)

प्रणेता
सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश'
एम.ए. हिन्दी विद्यावाचस्पति (मानद)
श्री हनुमान मन्दिर
लखीमपुर रोड, गोला गोकर्ण नाथ (खीरी)-262802 (उ. प्र.)
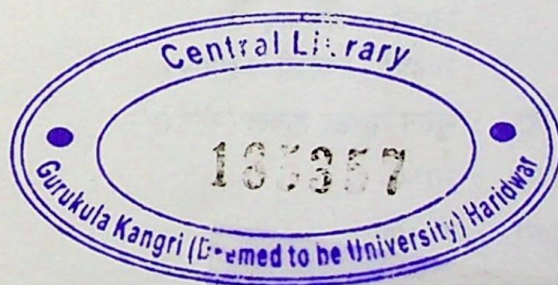
लोकवाणी संस्थान
दिल्ली-110093

ISBN : 978-93-81487-56-3

प्रकाशक : **लोकवाणी संस्थान**
डी-585ए, गली नं. 3, अशोक नगर,
निकट वजीराबाद रोड,
शाहदरा, दिल्ली-110093

प्रथम संस्करण : 2014

मूल्य : ₹ 400/-

आवरण : अमित कुमार

शब्द-संयोजन : मुस्कान कम्प्यूटर्स, दिल्ली-110094

मुद्रक : विशाल कौशिक प्रिंटर्स, दिल्ली-110093

Pravanchita *by Suresh Kumar Shukla 'Sandesh'*

समर्पण

पितृकल्प श्रद्धेय

स्व. चन्द्रशेखर शुक्ल 'चन्दर' जी की

पुण्य स्मृति को

सम्पूर्ण श्रद्धा सहित

—'सन्देश'

उपोद्घात

प्रकृति की ओर से दुर्बल और स्वभावतः कोमलमना होने के कारण नारी प्रायः पूरे विश्व में पुरुषों के द्वारा शासित, संचालित, शोषित एवं दलित रही है। भारत के पितृसत्तात्मक समाज पर भी यही तथ्य सटीक बैठता है। आदर्शमूलक महाकाव्य 'रामायण' हो या यथार्थवादी महाकाव्य 'महाभारत', दोनों में ऐसे नारी पात्र उपलब्ध हैं, जो विभिन्न कथा प्रसंगों में लांछित, कलंकित, उत्पीड़ित तथा उपेक्षित किये गये हैं। भारत में उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल तक नारी की दशा अपेक्षाकृत अच्छी रही, किन्तु उत्तर वैदिक काल के बाद यह शोभन स्थिति धीरे-धीरे बिगड़ती हुई मध्यकाल में चरम बिन्दु पर पहुँच गयी, जिसके अवशेष आज भी भारतीय जनजीवन में विद्यमान हैं। रामायण में इन्द्र द्वारा परिभुक्ता अहल्या तो पाषाणी है ही, अग्निपरीक्षिता सीता भी परित्यक्ता का दुःख भोगती है।

महाभारत में अनेक नारियाँ मानव के अमानवीय स्वेच्छाचार में जकड़ी जाकर छटपटाती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें क्रमशः सत्यवती, अम्बा, कुन्ती, द्रौपदी और गान्धारी के नाम लिये जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रवन्धकाव्य 'प्रवंचिता' अम्बा के जीवन चरित पर आधारित है। कवि ने अम्बा को प्रवंचिता युवती के रूप में काव्य का आधार बनाया है। इस माध्यम से कवि ने भीष्म के रूप में एक महाशक्तिशाली एवं समर्थ पराक्रमी पुरुष तथा अम्वा के रूप में एक आग्रही और प्रवंचिता नारी के अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण भावलोक को उजागर किया है। भीष्म का चरित्र भारत में उनके दृढ़प्रतिज्ञ, देवव्रती, पितृभक्त, श्रीकृष्णभक्त, नीतिज्ञ एवं परमवीर होने के कारण श्रद्धास्पद है। अम्बा का चरित्र एक ऐसी राजकुमारी का है जो शाल्व नरेश का वरण करना चाहती है, परन्तु काशिराज की यह पुत्री स्वयंवर सभा से भीष्म द्वारा अपहरण के समय यह बात उन्हें नहीं बताती है। हस्तिनापुर पहुँचने के बाद बताने पर भीष्म द्वारा ससम्मान शाल्व नरेश के पास भेजे जाने पर अम्बा यह कहकर तिरस्कृत की जाती है कि वह हस्तिनापुर का उच्छिष्ट है। उस युग के नियमानुसार स्वयंवर से हरण करनेवाला ही कन्या से विवाह करता था। अम्बा काशी में भी अपने पिता द्वारा तिरस्कृत हो, विवश होकर पुनः हस्तिनापुर आती है और भीष्म से परिणय का आग्रह करती है, परन्तु आजीवन ब्रह्मचर्यव्रती रहने की अपनी प्रतिज्ञा से अवगत कराकर भीष्म उसके साथ ब्याह के लिए मना कर देते हैं। फिर भी वह आशा की एक किरण

सँजोए अपने नाना होत्रवाहन के आश्रम में भीष्म के गुरु परशुराम को अपनी व्यथा-कथा सुनाती है। परशुराम भीष्म को आश्रम में बुलवाकर उन्हें अम्बा से विवाह का आदेश देते हैं; जिसे प्रतिज्ञाबद्ध भीष्म स्वीकार नहीं करते हैं। परिणामतः कुरुक्षेत्र में गुरु शिष्य के मध्य तेईस दिन तक भयंकर युद्ध चलता है; जो अनिर्णीत स्थिति में समाप्त हो जाता है। परशुराम द्वारा अपनी विवशता व्यक्त करने के बाद अम्बा की रही-सही आशा भी भग्न हो जाती है तथा उसके हृदय में तपस्या से शक्ति अर्जन करके भीष्म से अपने अपमान एवं जिन्दगी से खिलवाड़ करने का प्रतिशोध लेने की भावना जगती है। उसकी तपस्या से अपने पुत्र के अहित की आशंका में गंगाजी उसे समझाती हैं, लेकिन वह अपने संकल्प पर अडिग रहती है और तीसरे जन्म में शिखण्डिनी से शिखण्डी बनकर स्वयं को भीष्म से बदला लेने योग्य बना लेती है।

इस प्रबन्धकाव्य के भिन्न-भिन्न सर्गों में सत्यवती, शाल्व नरेश, भीष्म, गंगा इत्यादि के साथ अम्बा के जो संवाद और वार्तालाप होते हैं, उनमें उसकी व्यथा कथा, आक्रोश, मानसिक दृढ़ता, संकल्पशक्ति और अदम्य साहस के साथ वे सभी विचार अभिव्यक्त हुए हैं जिन्हें समसामयिक साहित्य में नारी विमर्श के रूप में देख रहे हैं। यही प्रसंग कवि को आधुनिक भाव-बोध से जोड़ते हैं। कुछ स्थल यहाँ द्रष्टव्य हैं।

सत्यवती से अम्बा का यह कथन नारी अस्मिता पर हुए आघात को बलपूर्वक मुखर करता है। क्योंकि अम्बा पति रूप में मन ही मन शाल्व नरेश का वरण कर चुकी थी–

> ''और स्वयंवर से ही मुझको देवव्रत हर लाये,
> मेरे मन के रंग भंग कर दृग में अश्रु उगाये।
> हुईं भावनाएँ, सब आहत, जीवन हुआ कलंकित
> वर्तमान की झझाओं से है भविष्य आशंकित।
>
> दया करें अविलम्ब अम्ब! मेरा अभीष्ट दिलवा दें
> *मुझको मेरे शाल्वराज के चरणों में पहुँचा दें।''*

शाल्व नरेश को फटकारती हुई वह कहती है कि मेरे अपहरण के समय तुम भीष्म का सामना करके मुझे अपनी परिणीता नहीं बना सके और अब अपने पराक्रम का बखान कर रहे हो–

> ''तन-मन कुटिल अमावस तेरा, वस्त्र उजालो जैसे,
> ओढ़ शेर की खाल आचरण किये शृंगालों जैसे।
> मुझे मिले छल और प्रवंचन जीवन में हैं अब तक
> समझा जिसे पुरुष था मैंने निकला निरा नपुंसक।''

भीष्म जैसे महान चरित्र के समक्ष भी अम्बा न्याय की गुहार करती है–

''अरे भीष्म! जिस मर्यादा का तुम बखान करते हो
लाँघ गये हो उसे स्वयं अब व्यर्थ दम्भ भरते हो।
भरी सभा से खींच मुझे जब रथ में बैठाया था
कहाँ तुम्हारा न्याय धर्म था, क्यों न रोक पाया था?''

इसी प्रकार गंगा के सामने भी भीष्म से प्रतिशोध का अटल संकल्प व्यक्त करती है–

''अग्नि शीतल बने, नीर पाहन बने
लील ले सिन्धु क्षिति सृष्टि का हो क्षरण।
पंथ से मैं न तिलभर टलूँगी कभी
भानु ठहरे भले काल का संचरण।
लक्ष्य की प्राप्ति होती न जब तक मुझे
गतिमती मैं रहूँगी सतत आमरण।
देवि! विश्वस्त हूँ एक दिन लक्ष्य को
प्राप्त कर शान्ति का मैं करूँगी वरण।''

भीष्म आजीवन कौमार्यव्रत धारण किये रहने के प्रण से अवश्य बँधे हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि अम्बा के रूप लावण्य, विवाह के आग्रह और अग्निशिखा के समान उसकी दृष्टि की प्रखरता से वे नितान्त अनासक्त, असम्पृक्त रह पाये हैं। उसके शिखण्डी रूप में भी उन्हें उसकी वही छवि दिखती है, जो स्वयंवर सभा में देखी थी। युद्धभूमि में उसे सामने पाकर शस्त्र त्याग केवल उनके वीर धर्म का ही परिचायक नहीं है, अपितु उनके हृदय में उसके साथ किये गये अन्याय बोध का भी परिचायक है। अम्बा की यादें उन्हें उससे भी अधिक सालती हैं, जितनी अधिक शरशय्या भी नहीं। इस रचना में समर्थ कवि ने भीष्म के इस मनस्ताप, अन्तर्द्वन्द्व और उनकी प्रतिज्ञाजनित विवशता को पूरी तन्मयता से रूपायित किया है। काव्य का पूरा का पूरा उत्तरार्द्ध इसी भावभूमि को अत्यन्त प्रभावोत्पादकता से छन्दायित करने में सफल हुआ है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं–

प्रायश्चित की प्रखर अग्नि में हर पल दग्ध रहा हूँ,
बिना घाट की धार जिन्दगी लिए विमुक्त बहा हूँ।

अभी प्रश्न पर प्रश्न खड़े हैं उत्तर शीश झुकाये
हाय! मृत्यु के हाथ अभी हैं नहीं प्राण तक आये।

अम्बा के उस साहस को मैं भूल नहीं पाया हूँ,
जिसके कारण शरशय्या पर मृत्यु निकट आया हूँ।

अम्बा कुलीन कन्या और भारतीय संस्कारों में रची-बसी नारी के गुणों से तो सम्पन्न है ही, एक अनिंद्य सुन्दरी भी है। न केवल वह अपनी बहनों–अम्बिका-अम्बालिका से वय में बड़ी है, अपितु व्यक्तित्व में भी बड़ी है। सन्देश जी ने उसके रूप लावण्य का चित्रण द्वितीय सर्ग में पूर्ण तत्परता से दशाधिक छन्दों में किया है, जो किसी भी सौन्दर्य बोध से सम्पन्न पाठक को आकर्षित करने में समर्थ है। इस रूपांकन में नखशिख वर्णन की स्थूल परम्परा को न अपनाकर कवि ने सुन्दरता जनित कान्ति, दीप्ति, मार्दव, सौकुमार्य, हाव-भाव तथा नव-यौवन की सहज छवि भंगिमाओं को काव्य बिम्बों में सँजोया है। उसका उपमान विधान पारम्परिकता से अभुक्त एवं नवीन और मौलिक है। अम्बा के नेत्रों के सादृश्य दर्शनीय हैं–

'मृगशावक से चंचल दृग लगते नीलकमल,
या नीलम की घाटी में जगमग हलचल।
या अस्थिर खंजन से संयम के शत्रु प्रबल,
या छिपे अंक में पूनम के घनश्याम युगल।'

प्रबन्ध काव्य का प्रथम सर्ग भारत की प्राचीन सप्तपुरियों में एक काशी को समर्पित है। सन्देश जी ने वाराणसी वर्णन में पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक आयाम सम्पूर्ण रुचि के साथ काव्यबद्ध किये हैं। उससे उनके गहन अध्ययन के साथ धार्मिक आस्था विश्वास का भी परिचय मिलता चलता है। इसी प्रसंग में देवनदी गंगा के पुण्य स्तवन से उन्होंने अपनी लेखनी को पवित्र किया है। भागीरथी के परिखामण्डल से सुरक्षित यह काशी अम्बा जी की जन्मभूमि और उसके पिता सेनबिन्दु की राजधानी है; जहाँ से गंगापुत्र भीष्म उसे और उसकी दो अनुजाओं को स्वयंवर सभा से हर ले गये थे। कवि ने काशी के अतिरिक्त भीष्म परशुराम युद्ध के पश्चात् प्रतिशोधकामिनी अम्बा के तपस्या हेतु जाते समय गंगा का भीष्म की ममतामयी माँ के रूप में चित्रण किया है।

सन्देश जी की इस महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध रचना में स्थल-स्थल पर प्रकृति के विभिन्न मनोहारी रूप उकेरे गये हैं। आश्रमवर्णन तथा चाँदनी रात की आह्लादकता के अतिरिक्त वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं की भिन्न-भिन्न छटाएँ चित्तहारिणी हैं। पूरे प्रकृति चित्रण में कवि का वसन्त वर्णन सर्वाधिक उदात्त एवं चित्ताकर्षक बन पड़ा है।

प्रस्तुत काव्य में अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्ष के साधन रूप में अनायास दृष्टिगोचर होता है। कविता की अँगूठी में अलंकारों के ये रत्न सहज रूप से जटित

हैं। यही कारण है कि नैसर्गिक सुन्दरी कविता वनिता अलंकृत होकर और अधिक दीप्तिमती हो उठी है। कवि ने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक प्रयोग किया है। अर्थालंकारों में भी उसने सादृश्य मूलक अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत आदि ही अधिक अपनाये हैं। अम्बा के सौन्दर्य वर्णन में माधुर्य, भीष्म परशुराम तथा कुरुक्षेत्रीय प्रसंगों में ओज और प्रायः समस्त छन्दों में प्रसाद गुण के साथ पांचाली, गौड़ी और वैदर्भी रीतियों का सुष्ठु संयोजन देखते ही बनता है। सन्देश जी ने 'प्रवंचिता' काव्य में सर्वत्र मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें 'सार' छन्द का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य का पर्यवसान भीष्म को शरशय्या पर गिराने में अर्जुन का सहयोग करने वाले शिखण्डी (अम्बा) के प्रतिशोध भाव की शान्ति में होता है। भीष्म भी अन्त में शान्ति की कामना करते हैं। अतः 'शान्त' ही इस काव्य का अंगीरस हो सकता है; जिसके सहायक रसों में अम्बा के क्रोध विषयक प्रसंग 'रौद्र' युद्ध में भयजनक प्रसंग 'भयानक' भीष्म की उत्साहपूर्ण उक्तियाँ 'वीर', अम्बा के बाल्यकाल के वर्णन में 'वात्सल्य' का सफल निष्पादन हुआ है।

मेरे लिए यह सन्तोष एवं प्रसन्नता का विषय है कि लगभग आठ वर्ष पूर्व मैंने श्री सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' को महाभारत के जिस उपेक्षित नारी पात्र पर रचना करने के लिए प्रेरित किया था, उन्होंने उस विषय पर पूरी निष्ठा से अपनी उग्र कवित्व शक्ति का परिचय देते हुए मेरी उस प्रेरणा को फलीभूत किया है। जैसे सन्तान में उसके माता-पिता की कायिक प्रतिच्छवि झलकती है ठीक वैसे ही किसी-किसी शिष्य में भी अपने गुरु की बौद्धिक छवि के दर्शन किये जा सकते हैं। प्रवंचिता काव्य के सम्बन्ध में भी यह तथ्य ग्रहणीय है। मेरा शुभाशीष है कि सन्देश जी की यह कृति दिगन्तव्यायिनी कीर्ति की अधिकारिणी बनें।

—डॉ. अनन्तराम मिश्र 'अनन्त'
रीडर, हिन्दी विभाग
सी.जी.एन.पी.जी. कॉलेज
गोला, खीरी, उ. प्र.

भूमिका के शब्द

श्री सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' वर्तमान हिन्दी कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी काव्य-साधना सर्वथा सलाघ्य एवं सराहनीय है। 'प्रवंचिता' (महाकाव्य) के पूर्व इनकी अनेक श्रेष्ठ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें श्री तपेश्वरी चालीसा, श्री हनुमत बावनी, श्री अम्बा लहरी, श्री रामजीवनम्, चाँदनी के घर, धर्म-विजय, सपनों के प्रासाद, जीवन के सोपानों में, गोला गोकर्णनाथ माहात्म्य, निर्बन्ध-निर्झर, अनन्त आविर्भाव, जय विवेकानन्द, मैं मछली हूँ, मैं वृक्ष हूँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन्देश जी मुक्तक, गीत एवं स्फुट काव्य के सृजन में तो सिद्धहस्त हैं ही उनकी प्रबन्धपटुता भी प्रशंसनीय है। उनके पूर्व प्रकाशित खण्डकाव्य और महाकाव्य पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर चुके हैं।

हिन्दी खड़ीबोली में अनेक रचनाकारों ने महाकाव्यों का प्रणयन किया है जिनमें अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत 'प्रिय-प्रवास', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत', महाकवि जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी', राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र', महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त कृत 'लोकायतन', डॉ. रामकुमार वर्मा कृत 'एकलव्य', गोपाल शरण सिंह कृत 'जगदालोक' आदि प्रमुख रूप से उल्लिखित किए जा सकते हैं। मेरे द्वारा रचित महाकाव्यों में 'अमर सुभाष' और 'अशोक महान्' की सराहना सुधी समीक्षकों ने की है।

महाकाव्य के अनेक लक्षण काव्य-शास्त्रियों ने बताये हैं। जिस काव्य में मानव-जीवन के सर्वांग का क्रमबद्ध रूप से वर्णन किया गया हो उसे महाकाव्य कहते हैं। वस्तुतः किसी धीरोदात्त नायक के जीवन की सम्पूर्ण झाँकी प्रस्तुत करना इसका उद्देश्य है। महाकाव्य की परिभाषा बाबू गुलाब राय ने इस प्रकार की है :—

''महाकाव्य वह विषय प्रधान काव्य है, जिसमें बड़े आकार में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।''

कविवर सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' ने 'प्रवंचिता' (महाकाव्य) में पारम्परिक काव्यशास्त्रीय लक्षणों और अभिनव परिभाषाओं का पूर्ण ध्यान रखा है।

महाकाव्य को कुल ग्यारह सर्गों में विभक्त किया गया है, जिनके शीर्षक हैं—1. काशी, 2. बचपन-यौवन, 3. स्वयंवर, 4. हस्तिनापुर, 5. ऋषि आश्रम में अम्बा, 6. परशुराम भीष्म का युद्ध, 7. तपस्या, 8. द्रुपद की पुत्रेष्टि यज्ञ, 9. शिखण्डी का ब्याह एवं पुंसत्व प्राप्ति, 10. कुरुक्षेत्र, 11. शरशय्या। इस प्रकार आठ या आठ से अधिक सर्गों के प्रावधान का पालन किया गया है।

महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से करने की व्यवस्था है। काशी सर्ग के प्रारम्भ में मंगलात्मकता की भावना निहित है। महाकाव्य की आरम्भिक पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

गंगा की पावन लहरों में,
जहाँ मन्त्र मज्जन करते।
नहीं मनुज ही पशु-पक्षी भी,
वेदों का वाचन करते ॥
जहाँ धर्म की ध्वजा फहरती,
रहती नित्य समुन्नत है।
जहाँ कामनाओं की आँधी
शान्त और श्रद्धानत है ॥

सम्पूर्ण कथा-वस्तु का सर्गों में विभाजित हो जाने से कथानक का क्रम-बद्ध ज्ञान सरलता और सहजता से हो जाता है। यह कवि के प्रबन्ध-कौशल का परिचायक है। 'प्रवंचिता' के सम्पूर्ण जीवन का मार्मिक चित्रण करने में रचनाकार को सफलता प्राप्त हुई है।

महाकाव्य के लिए चरित नायिका के रूप में अम्बा का चयन सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि उपेक्षित पात्रों की ओर कवियों का ध्यान जाना सर्वथा न्यायोचित है। अम्बा की सुन्दरता, सुयोग्यता, संवेदनशीलता एवं आन्तरिक भावना का निरूपण 'सन्देश' जी ने कुशलतापूर्वक किया है। 'अम्बा' के चरित्र का सुचारू चित्रण तो दृष्टिगोचर होता ही है कथावस्तु के अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रभावपूर्ण है। 'अम्बा' के सम्बन्ध में रचित ये काव्य-पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

अम्बा जगदम्बा अवलम्बा काशी कुल की।
दीपशिखा परमोज्ज्वल ज्यों प्रदीप संकुल की।

× × ×

मुख-कञ्ज-मञ्जु अम्बा का सुन्दर निर्विकार।
सौन्दर्य-सिन्धु के मन्थन का नवनीत-सार ॥

खिल उठे कमल सोनल अम्बा के मानस में।
अभिनव जीवन की ज्योति स्नात अभिनव रस में ॥

अम्बा का यौवन भी अपार अति सुन्दर था।
रत्नों से भरा हुआ उन्मत्त समुन्दर था ॥

'सन्देश' जी ने अम्बा के गुण, स्वभाव, सौन्दर्य, माधुर्य, नारीत्व, चिन्तन-मनन, साहस, धैर्य, प्रेम, हृदयोद्गार आदि का विशद् वर्णन करने में वांछित सफलता प्राप्त की है।

अनेक स्थलों पर प्राकृतिक दृश्यों का अनुपम अंकन किया है। वातावरण का समयानुकूल चित्रण भी यत्र-तत्र दृष्टव्य है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

उपवन मोहक रम्य प्रकृति सुषमाएँ अक्षर।
झूल रहीं अरुणाभ लताएँ डाल-डाल पर ॥
प्रभा प्रभाती की कलियों के अरुण अधर पर।
नीरव नर्तित मधुर मनोहर मदिर-मदिर वर ॥

नंदन वन को मात कर रहे काशी-उपवन।
मन्द बयार बहार उमंगों का नव नर्तन ॥
नन्दन वन है मात्र सुरों का ही चिर नूतन।
पूजनीय है जब कि सुरों का भी काशी वन ॥

पुष्प लताओं, कुञ्जों से आश्रम-श्री उत्कर्षित है।
शीतल वट, पीपल, रसाल से शान्ति सहज हर्षित है ॥

महाकाव्य की भाषा सरल, सुबोध, परिष्कृत, प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। अधिकांशतया संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। इससे विदित होता है कि कवि को हिन्दी एवं संस्कृत दोनों भाषाओं का सम्यक् ज्ञान है। श्रेष्ठ शब्द चयन और भव्य भाषा की दृष्टि से एक दृष्टान्त अवलोकनीय है :-

महादेव देवाधिदेव से,
रक्षित सदा रही काशी।
घनीभूत-सी पवित्रता है,
पावन वही मही काशी ॥
भक्ति, मुक्ति अध्यात्म, धर्म
श्रद्धा, निष्ठा की माला-सी।

बसी हुई शिव के त्रिशूल पर,
पृथ्वी की प्रतिभा काशी ॥

अनेक स्थलों पर सुन्दर सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं जिससे भाषा-सौष्ठव में अभिवृद्धि हुई है। कुछ सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं :–

जो यौवन सत् चित को संचित कर पाता है।
वह जीवन भर मंगल आनन्द मनाता है ॥
दुख आता नहीं निकट सुख ही लहराता है।
वह सत्यं, शिवं, सुन्दरं का धन पाता है ॥

इस घूर्णित काल-चक्र में कुछ भी स्थिर न यहाँ रह पाता है।
आता है कभी प्रकाश कभी तो तम अपार छा जाता है ॥

कैसा है विधि का विधान कुछ समझ नहीं आता है।
अपने इंगित से वह जैसा चाहे करवाता है ॥
हाय! विधाता ने आखिर यह क्या आकलन किया है।
देवों के आँसू समेट नारी का सृजन किया है ॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड व्यापिनी एक परासत्ता है।
पत्ता-पत्ता, तृण-तृण में उसकी ही गुणवत्ता है ॥
मृण्मय, चिन्मय का संयोजन नित्य किया करती है।
धरती है आलोक कभी धरती पर तम धरती है ॥

यत्र-तत्र अम्बा के मार्मिक आत्मोद्गार के दर्शन होते हैं। महाकाव्य के अन्य पात्रों के साथ अम्बा के संवाद और संलाप भी उच्चकोटि के हैं। इस प्रकार कथोपकथन की दृष्टि से भी 'प्रवंचिता' एक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ है। भीष्म को सम्बोधित करती हुई अम्बा अपनी हृदय-स्पर्शी भावना इस प्रकार अभिव्यक्त करती है :–

पितृ तृप्ति के लिए कठिन संयम व्रत करने वाले,
जीवन का मधुमास विकट लपटों से भरने वाले।
बिना विचारे ही संयम का बड़ा कठिन निर्णय है,
क्योंकि यौवनोन्माद बड़ा ही दुष्ट और निर्दय है।

वर्णनात्मकता के कारण प्रत्येक प्रबन्ध काव्य में अभिधा का ही प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। यद्यपि 'प्रवंचिता' महाकाव्य में भी प्रमुख रूप से अभिधा का

ही आश्रय लिया गया है तथापि कहीं-कहीं स्वाभाविक रूप से आवश्यकतानुसार लक्षण और व्यंजना भी अपनाई गई है। इस प्रकार 'सन्देश' जी ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनों का उपयोग कर अपने काव्य-सौष्ठव का परिचय दिया है।

रस-परिपाक और रसाभास की दृष्टि से भी 'प्रवंचिता' महाकाव्य एक श्रेष्ठ रचना है। अधिकांश रसों का निरूपण कुशलतापूर्वक किया गया है। वात्सल्य, शृंगार, करुणा और वीर रस की प्रमुखता है। अम्बा के यौवन और उसके सौन्दर्य के वर्णन में शृंगार रस का सम्यक् दर्शन सराहनीय है। उदाहरणार्थ :–

जीवन का शृंगार-पर्व सर्जन यौवन है।
जीवन का श्री सुधा-कलश कंचन यौवन है॥
जीवन का मधुमास, फाग, सावन यौवन है।
जीवन का अज्ञात गंधमादन यौवन है॥

घुंघराली लटें लटकती अरुण कपोलों पर।
या घेर रहे दामिनि को घन के श्यामल कर॥
हैं न ही दोलनोत्सुक लगते स्वर्णिम कुण्डल।
पूनमी चन्द्र में जाग उठी अद्‍भुत हलचल॥

स्वयंवर-सभा में भीष्म की ओजस्वी वाणी में वीर-रस की धारा प्रवाहित होती है :–

हो सावधान! मैं देवव्रत
घोषणा सभा में करता हूँ।
जो हो समर्थ रक्षा कर ले,
सब कन्याओं को हरता हूँ॥
हैं चारों तरफ मृत्यु के बादल,
घुमड़ रहे अब मत हिलना।
आसन से वह ही उठे,
मृत्यु से जिसे शीघ्र ही हो मिलना॥

जहाँ-तहाँ अलंकारों की अद्‍भुत छटा महाकाव्य को कमनीयता प्रदान करती है। विशेष रूप से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से यथा-स्थान प्रयुक्त हुए हैं।

सुकवि सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' का छन्दों पर असाधारण अधिकार है। उन्होंने सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना विभिन्न छन्दों में की है। छन्दों में पूर्ण प्रवाह है। गति-यति का निर्वाह सफलता-पूर्वक हुआ है। कहीं भी गति-यति-भंग दृष्टिगोचर

नहीं होता। तुकान्तों का भी प्रयोग उच्चकोटि का है।

महाकाव्य में नारी-विमर्श, जीवन के शाश्वत नैतिक मूल्यों का सबल समर्थन तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अनन्य अनुराग यथावसर उपलब्ध होता है जिससे कृति उद्देश्य-परायणता के गुण से सुसज्जित हुई है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की महानता में रचित ये काव्य-पंक्तियाँ कितनी प्रेरक और उत्साह-वर्द्धक हैं :–

जहाँ दिव्य चेतना विहँसती रहती है कण-कण में।
जीवन-मूल्य समुन्नति पाते रहते हैं क्षण-क्षण में।
जहाँ प्रतिक्षण सत्वगुणी धारा बहती रहती है।
जिनसे हो जीवनोन्नयन वे सूत्र सदा कहती है।
धन्य सनातन संस्कृति जिसने यह परिवेश दिया है।
भारत का ही नहीं विश्वभर का उपकार किया है।
भारतीय संस्कृति समग्र मानवता का दर्पण है।
इसके चरणों पर श्रद्धा का भाव-सुमन अर्पण है।
यहाँ सभ्यताएँ आकर सद्भाव ग्रहण करती हैं।
यहाँ समन्वय की धरती पर समता अंकुरती है।
यहाँ चरित्र और संयम के उज्ज्वल रजत-शिखर हैं।
यहाँ सुदृढ़ नैतिकता के सम्बलित मनोहर स्वर हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भाव, भाषा, शैली, छन्द, रस, अलंकार की दृष्टि से तो 'प्रवंचिता' महाकाव्य एक श्रेष्ठ रचना है ही महाकाव्य के काव्य-शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर भी यह पूर्णतया खरी उतरती है। वर्तमान नारी-समाज की भावनाएँ भी इसमें प्रतिबिबिम्बत होती हैं जिससे महाकाव्य की सामयिक प्रासंगिकता भी सिद्ध होती है। महाभारतकालीन एक उपेक्षित नारी-पात्र अम्बा के साथ न्याय कर कविवर सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' ने अपने महाकाव्य के द्वारा कवि-धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वहन किया है। विश्वास है कि हिन्दी काव्य-जगत में 'प्रवंचिता' महाकाव्य का व्यापक सहर्ष स्वागत होगा और सुधी समीक्षक तथा रसज्ञ मर्मज्ञ काव्य-प्रेमी पाठक इसकी सराहना करेंगे। 'सन्देश' जी हार्दिक बधाई और साधुवाद के पात्र हैं। मैं काव्य-क्षेत्र में उनकी सतत् प्रगति की मंगला-कामना करता हूँ।

–विनोद चन्द्र पाण्डेय 'विनोद'
पूर्व निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

'विनोद-वाटिका'
सी-10, सेक्टर-जे (जागृति विहार)
अलीगंज, लखनऊ-226024
(उ. प्र.) मो. : 09415763290

अपनी बात

हिन्दी कविता में महाकाव्य लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत, जो कि हिन्दी की जननी है, अपने आप में, विश्व के महान काव्यों से समृद्ध है। आदिकवि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम 'रामायण' महाकाव्य का प्रणयन कर इस परम्परा का सुन्दर एवं मंगलमय शुभारम्भ किया। वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' परवर्ती रामकाव्यों का मूल आधार है। चूँकि वाल्मीकि जी संस्कृत के आदिकवि हैं इसलिए 'रामायण' आदि काव्य है। महाकाव्य की यह परम्परा वेदव्यास के समय तक और अधिक विकसित हुई। उन्होंने विश्व के सबसे विशाल महाकाव्य 'महाभारत' की सर्जना कर उसके व्यापक फलक को सिद्ध और समृद्ध किया। 'महाभारत' अपने युग का विश्वकोष है, उसे पंचम वेद भी कहा जाता है। परवर्ती कवियों ने अपने काव्य प्रतिपाद्य अधिकांश इन्हीं दो ग्रन्थों से लिये हैं। इसीलिए इन दोनों महाकाव्यों को उपजीव्य काव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। हिन्दी की अधिकांश महाकाव्य परम्परा संस्कृत के ही ग्रन्थों पर निर्भर रही है।

प्रस्तुत महाकाव्य 'प्रवंचिता' भी महाभारत से ही सम्बन्ध रखता है। काशिराज सेनबिन्दु की पुत्री अम्बा के जीवन चरित को निदर्शित करने वाले इस काव्य की विषयवस्तु 'महाभारत' के साथ-साथ डॉ. युगेश्वर के उपन्यास 'देवव्रत', डॉ. किशोर काबरा के निबन्ध संग्रह, डॉ. शैल सक्सेना के महाकाव्य 'युगान्त' एवं कुछ अन्य ग्रन्थों से संकलित कर विगत सात वर्षों में सृजित हो सकी है। अम्बा जिस प्रकार अपने जीवन में उपेक्षित हुई उसी प्रकार हिन्दी कविता में भी उसे उचित न्याय नहीं मिल पाया। प्रख्यात साहित्यकार डॉ. किशोर काबरा जी ने एक बार मेरे गुरुदेव डॉ. अनन्तराम मिश्र 'अनन्त' जी से वार्ता के दौरान इस विषय पर चर्चा करते हुए कहा था—"अम्बा का जीवन चरित समग्र रूप से अभी तक हिन्दी कविता में प्रकाश नहीं पा सका है। वह संस्कृत एवं हिन्दी के कई ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरा एवं दबा पड़ा है। मैं अपनी अव्यवस्था के कारण असमर्थ हूँ। अतः आप भारतीय साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण पात्र को महाकाव्य का रूपाकार दें।" उस समय मेरे गुरुदेव का नदी काव्य अनुष्ठान चल रहा था। गोदा कावेरी जैसे महाकाव्य सृजन की प्रतीक्षा में थे, साथ ही स्वास्थ्य की समस्या के कारण कोई नया लेखन सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने उक्त विषय पर काम करने के लिए मुझे प्रेरित किया। यद्यपि मेरी मन्दबुद्धि, सीमित स्वाध्याय एवं सामान्य प्रतिभा के लिए इतना बड़ा एवं श्रमसाध्य कार्य अत्यन्त

कठिन था, फिर भी गुरुदेव का संरक्षण एवं निरन्तर मार्गदर्शन मुझे कार्य करने की शक्ति प्रदान करता रहा। सामग्री उपलब्ध करवाने के साथ ही सर्गों का वर्गीकरण एवं छन्द चयन तथा उनके परिमार्जन एवं संशोधन तक गुरुदेव डॉ. अनन्त जी की कृपा अविस्मरणीय है।

निरन्तर एक ही विषय पर केन्द्रित होकर लिखना और उसे साहित्य के स्वर्णिम सोपान तक पहुँचाना तो कोई मेरे गुरुदेव से सीखे; इस सन्दर्भ में उनका नदीकाव्य सृजन उल्लेखनीय है जो नितान्त मौलिक एवं नवीन है। अपने इष्ट श्री हनुमान जी से मेरी प्रार्थना है कि गुरुदेव का जीवन निरामय हो, वे शतायु हों और मुझ जैसे अयोग्य शिष्य को अपने आशीर्वाद से सम्बलित करते रहें। वरिष्ठ साहित्यकार एवं उ.प्र. हिन्दी संस्थान के पूर्व निदेशक डॉ. विनोदचन्द पाण्डेय 'विनोद' ने भूमिका के शब्द लिखकर मेरी इस कृति को गौरवान्वित किया है। मैं उनका सदैव ऋणी रहूँगा।

लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. हरिशंकर मिश्र, जिनके निर्देशन में मेरी कृतियों पर एम.फिल. का कार्य सम्पन्न हुआ, ने इस कृति पर आशीर्वाद देकर उपकृत किया है। उनका स्नेह सद्भाव मुझे सदैव याद रहेगा। पितृकल्प श्रद्धेय चन्द्रशेखर शुक्ल 'चन्दर' जिनका स्नेह सौजन्य मेरे लिए चिरस्मरणीय है। उनकी सहृदयता एवं उदारता सदैव मेरे पथ का पाथेय रहेगी। श्री आनन्द मिश्र 'अभय', डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय, रामनारायण त्रिपाठी 'पर्यटक', मनोज शुक्ल 'मनुज', गिरीशचन्द ओझा 'इन्द्र', अखिलेश त्रिवेदी 'शाश्वत', प्रिय शिष्य दिव्यांशु दीक्षित, जो कि मेरे साहित्यिक कार्य में निरन्तर मेरा हाथ बटाते रहते हैं; वाग्देवी उन्हें उनके सृजनकार्य में उत्तरोत्तर गति प्रदान करें। श्रीरामकृष्ण मिश्र, पवन कुमार गुप्त, श्रीकान्त तिवारी 'कान्त', सन्तकुमार वाजपेई, नीरज वर्मा, छोटेलाल मौर्य, ऋतिक गुप्त 'दर्पण' एवं मधुकर शैदाई आदि समस्त अग्रज एवं अनुजों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग तथा साहचर्य मुझे मिलता रहा है।

श्री ब्रह्मपाल सिंह जी (व्यवस्थापक लोकवाणी संस्थान) के प्रयास से यह कृति अपने स्वरूप में प्रकाशित हो सकी; मैं उनका भी आभारी हूँ। वे विगत बारह वर्षों से मेरी पुस्तकों का प्रकाशन करते आये हैं।

'प्रवंचिता' महाकाव्य आप सब साहित्यानुरागियों को अर्पित कर रहा हूँ। इसमें जो भी पंक्तियाँ अच्छी बन पड़ी हों वे आप सबके लिए और जो त्रुटियाँ रह गयी हों, वो मेरे लिए।

वसन्तोत्सव
सम्वत् 2068

—सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश'

तारतम्य

Central Library
183357
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

卐

शिव स्वरूपिणी काशी पावन निर्विकार अविनाशी है,
त्रिगुणात्मिका प्रकृति है उज्ज्वल पराशक्ति अघनाशी है।
जब काशी का धवलधाम अभिराम दृष्टि में आता है,
अम्ब भारती का कमलानन ज्योतिर्मय हो जाता है।

卐

1

काशी

महादेव देवाधिदेव से,
रक्षित सदा रही काशी।
घनीभूत-सी पवित्रता है,
पावन वही मही काशी।

भक्ति, मुक्ति अध्यात्म, धर्म
श्रद्धा, निष्ठा की माला-सी।
बसी हुई शिव के त्रिशूल पर,
पृथ्वी की प्रतिभा काशी।

जहाँ सत्य की धारा जाकर
शिव में लय हो जाती है,
जहाँ ज्ञान के शुभ्र शिखर पर
मधुर भक्ति मुस्काती है।

गंगा की पावन लहरों में,
जहाँ मन्त्र मज्जन करते।
नहीं मनुज ही पशु-पक्षी भी,
वेदों का वाचन करते।

जहाँ धर्म की ध्वजा फहरती,
रहती नित्य समुन्नत है।
जहाँ कामनाओं की आँधी
शान्त और श्रद्धानत है ॥

जहाँ मनुजता के मनोज्ञ
शृंगार सँवारे जाते हैं,
जहाँ सभ्यता के सुरम्य
सोपान सहज सुख पाते हैं।

अखिलेश्वर हैं, सर्वेश्वर हैं,
भूतेश्वर हैं, शंकर हैं।
शिव हैं शिव के धाम
वासना विषयों के प्रलयंकर हैं।

है त्रिगुणात्मक त्रिशूल धर्ममय
जिसका मूल दण्ड उज्ज्वल।
धर्मविजय के लिए, धर्म है
एकमात्र शाश्वत सम्बल।

धारे हुए विभूति सार शिव
अंग-अंग में उज्ज्वलता,
धर्म-वृषभ नन्दी वाहन
हरपल सेवा में रत रहता।

पुण्यधर्म काशी की धरती पर
विचरण करता हरपल
ज्ञान, भक्ति, वैराग्य कर्म हैं,
जिसके धवलस्तम्भ सबल।

ऐसा सुदृढ़ अनन्य
सनातन-धर्म भला कैसे झुकता?
जो शिव-तप-सा प्राणवन्त है
पथ पर फिर क्योंकर रुकता?

वशीभूत जिसको न कभी
कर पाते मोह-मदन-माया
उसी सनातन श्रीसंस्कृति की
काशी है अक्षर काया।

प्रणवात्मा है, पंचप्राण हैं-
ज्योतिर्लिंग जहाँ शोभन,
नित्य लोक की प्राणशक्ति का
करते रहते संवर्धन।

पंचानन के पंचरूप
काशी को श्रीमण्डित करते
काम, क्रोध, मद, लोभ,
दम्भ, दुर्भाव, द्वेष मन के हरते।

'विश्वनाथ' है नाथ विश्व के
जगती का पालन करते
'श्री अविमुक्त' मुक्ति के दाता
मोह अपार शमन करते

जन्म-मरण के बन्धन सब
शिव क्षण भर में हर लेते हैं।
'कृत्तिवासश्री' महादेव
गति परम सहज ही देते हैं।

जिनके दर्शन से नर से सुर
सुर से सुरपति बन जाता,
'तिलभाण्डेश्वर' साम्बसदा शिव
की महिमा जन-जन गाता।

जिनका आराधन सहस्र-
अश्वामेधिक फल का दाता,
उन्हीं 'दशाश्वमेध' पावन से
काशी कुल गरिमा पाता।

पंच दिव्य ज्योतिर्लिंगों का
दर्शन इच्छित फलदायी।
इनकी महिमा शिवपुराण ने
मुक्त कण्ठ से है गायी।

तत्व रूप सबमें समान
शिव ज्योतिर्मान सदा रहते
प्राणों में चेतना निरन्तर
नव-अभिनव हैं संचरते।

ज्ञान-शीश, आकाश-केश
निर्मलताओं के कोश-अतुल,
सूर्य-चन्द्र दृग दृष्टि समन्वय
दर्शन का दर्शन उज्ज्वल।

सत्य-धर्म हैं चरण
भुजाएँ युगतट गंगा के पावन
मुख है अग्नि, महान दिव्य
तैजस से परिपूरित आनन।

वाणी जिसकी सामगान है
मधुर मधुर मानो निर्झर
और पुष्ट वैराग्य रूप मन
रहता काशी के अन्तर।

卐

देह त्याग की घड़ी निकट ज्यों-ज्यों आती है।
यादों की बाँसुरी मुखर होती जाती है।
अम्बा के बचपन यौवन के पृष्ठ मनोहर,
खोल रहा है कौन न जाने एक एक कर।

卐

2

बचपन-यौवन

धवल धाम अभिराम गगनचुम्बी ध्वज शोभित,
शुभ्र शिखर नव रत्न खचित स्वर्णिम श्रीमण्डित,
यत्र-तत्र-सर्वत्र-अगरू-घन-धूम समुन्नत
मधुगन्धित परिवेश प्रदूषण रहित सुसंयत।

राजभवन सद्धर्म-कर्म पूरित आनन्दित,
सहज सत्त्वगुण रजत प्रखर तृण तृण पर नर्तित;
पुलकित दिव्य विराट शान्ति अक्षर-सी मुद्रित,
अधर-अधर प्रतिविम्ब सरस पाटल श्री सुषमित।

गंग-तरंग-उमंग-अंग-वीणा-मृदु झंकृत,
धार-धार-उपहार-हार-जीवन-धन संचित,
कल-कल ध्वनित अकूत विमल जल अविरल धावित,
सलिल-ब्रह्म आधार-जगत-वन्दित-अभिनन्दित।

शासन का शृंगार सहज शोभित अनुशासन,
शिष्ट-सुशील-विनीत-सरल मन्दिर सेवक जन।
प्रवहमान सद्ज्ञान शक्ति शुभ संचयकारी,
बना हुआ शिवधाम धर्म सम्बल संचारी।

उपवन मोहक रम्य प्रकृति सुषमाएँ अक्षर,
झूल रहीं अरुणाभ लताएँ डाल-डाल पर,
प्रभा प्रभाती की कलियों के अरुण अधर पर,
नीरव नर्तित मधुर-मनोहर मदिर-मदिर वर।

यौवन के मधुमत्त मधुकरो द्वारा चुम्बित,
लाजवती-सी कलिकाओं के अधर संकुचित।
यौवन की रस धाराओं में खोये-खोये,
नव अभिनव उल्लास रास मृदु हास सँजोये;

गीत गुनगुनाते अलियों के दल मन मोहक,
मधुर-मधुर मालिनी शिखरिणी नव रस दोहक।
प्रणय ऋचाएँ सहज सरस मलयानिल गाता,
नूतन जीवन राग मनोहर नित्य जगाता।

छटा-चम्पई मन-प्राणों में आग लगाती,
जाने कब के सोये-सोये ज्वार जगाती,
तितली के दल पास बुलाती रास रचाती,
हँसती सबको खूब हँसाती सुधा लुटाती।

जीवन का शृंगार-पर्व सर्जन यौवन है।
जीवन का श्री सुधा-कलश कंचन यौवन है ॥
जीवन का मधुमास, फाग, सावन यौवन है।
जीवन का अज्ञात गंधमादन यौवन है ॥

जीवन नूपुर का मृदु क्वणन क्वणन यौवन है,
जीवन सागर का तरंग गर्जन यौवन है।
स्वर्णिम दृश्यों का मनोज्ञ मंचन यौवन है,
जीवन का सर्वतोभद्र दर्शन यौवन है।

यौवन तो उत्कर्षित वासन्ती उपवन है;
उन्नत जीवन भाल हेतु गंधिल चन्दन है।
जीवन अम्बुधि का अमूल्य है रत्न प्रभाकर,
स्वर्णकाल है अकथनीय रसमय छविसागर।

जहाँ कामनाओं की अगणित धाराओं का,
अविरल गायन, वादन, गुंजन सुविधाओं का।
सकल विकल व्यापार मानसिक चलता रहता,
धरा नापता कभी व्योम को अपना कहता।

यह कैसा उन्माद शान्ति के लिए दुधारा,
जिसमें है बस ग्रहण, त्याग को नहीं बिचारा,
जहाँ चाह की प्यास अबुझ रहती है हरपल
जहाँ नहीं सन्तोष घोर तृष्णा की हलचल।

एक हाथ में सृजन एक में ध्वंस सजाये,
संसृति की मोहनी अमृत विष नित्य पिलाये।
यही मोहनी यदि विवेक का वरण कर सके,
तो खुद में गुरुता के अभिनव रत्न भर सके।

देख-देख यह दृश्य शोक जगता अशोक में
अरे! फँसा है मनुज कौन से अन्धलोक में,
भटका जीवन कहाँ पतन के तूफानों में
आग लगाता सतत प्रगति के सोपानों में।

अमृत-कुम्भ पाया, परन्तु विषगागर निकली,
पावन जीवनधार अश्रु का सागर निकली,
मन की मधुर तरंग रंग का अर्चन करती,
निरालम्ब स्वर्गिक भोगों का चिन्तन करती।

राजभवन उद्यान सहेजे उन्नत यौवन,
मधुगन्धित सानन्द मलयगिरि का प्रतिदर्शन,
प्राणवायु सी शान्ति प्रवाहित रहती हरपल,
रंचक घिरते नहीं कभी उलझन के बादल।

नंदन वन को मात कर रहे काशी-उपवन।
मन्द बयार बहार उमंगों का नव नर्तन ॥
नन्दन वन है मात्र सुरों का ही चिर नूतन।
पूजनीय है जब कि सुरों का भी काशी वन ॥

आज राजमहलों की शोभा अतुलनीय है,
जगी मांगलिकता मनोज्ञ श्री वन्दनीय है।
द्वार-द्वार पर मुखर हुए नूतन उजियारे,
धरती पर आयी रजनी शृंगार सँवारे।

सतरंगी परिधान सहज भूषित अंगों पर,
या कि नवोढ़ा ने धारे नूतन भूषण वर।
या सुकुमारी शरद रूप साकार धर उठी,
सचराचर में अभिनव रस संचार कर उठी।

या वसन्त सेना लेकर उर्वशी पधारी,
घुमा रही मादकता की हर ओर कटारी,
धारे धार हार किरणों का करती नर्तन,
बुद्बुद नूपुर मधुर, मधुर करते कल कूजन।

सिन्धुराज के घर जन्मी ज्यों लक्ष्मी माता,
या विदेह के गेह सिया जग भाग्य विधाता,
या आये हों प्राण देह में जीवन बनकर,
या बरसे हों जलद तप्त मरुथल के ऊपर।

त्यों ही अम्बा सेनबिन्दु के कुल में आयीं,
जाग उठीं खुशियाँ अपार महलों में छायीं।
अम्बा जगदम्बा अवलम्बा काशी कुल की।
दीपशिखा परमोज्ज्वल ज्यों प्रदीप संकुल की।

अम्बालिका अम्बिका लक्ष्मी ब्रह्माणी-सी,
साथ सुशोभित अम्बा पावन शर्वाणी-सी।
अति प्रसन्न श्री सेनबिन्दु थे सुतात्रयी से,
ज्यों गद्गद वेदज्ञ विप्र हो वेदत्रयी से।

गूँज उठी लोरी किलकारी राजभवन में,
सजने लगे साज नूतन नृप के आँगन में,
कन्या रत्नों को पाकर नृप झूम उठे थे,
एक दूसरे को धरती नभ चूम उठे थे।

मंगल कलश धरे सिर प्राची कुंकुम चन्दन-
लिये हाथ में दुर्वांकर करती अभिनन्दन।
बार-वार पढ़ रही स्वस्ति घन-विप्र-मण्डली,
हर्षित वसुधा देह हो उठी सहज सन्दली।

पूरित हैं हर्षातिरेक से राजभवन पथ;
किन्तु कौन जानता भला इस सुख का इति-अथ।
दान-मान-सम्मान, भोज के बहु आयोजन,
करने लगे चतुर्दिक हिलमिल जन-संयोजन।

चला बहुत दिन सुता जन्म-उत्सव सुखदायी,
शैशव ने काशी में फिर गुरु गरिमा पायी।
फूलों ने पराग बिखराया डगर-डगर पर,
मंगल गाती रहीं कोयलें मधुर-मधुर स्वर।

कलियों के अधरों पर नूतन रंगत आयी,
डाल-डाल पर कुसुम-विभा प्रतिभा-सी छायी।
जाग उठा माधुर्य मनोहर गुणगानों में,
प्रगति कर उठी गति जीवन के सोपानों में।

फैल गया सानन्द रास है धरा-गगन में,
झूम उठी अप्सरा खुशी की अन्तर्मन में।
भूली सुध-बुध काशी निज आनन्द मगन हो,
उर-मन्दिर में माया जैसे विगत भजन हो।

बिखरायी मुस्कान उषा ने डाल-डाल पर,
नये-नये शृंगार सजाते किरणों के कर।
लिये कुंकुमी थाल द्वार पर सन्ध्यारानी,
जगा रही उल्लास सुधा सिंचित मृदु वाणी।

नर्तित निशा लुटाती हीरक राशि प्रफुल्लित
और मुदित राकापति करता दुग्ध निर्झरित।
मंगल चौकें चारु चाँदनी चित्रित करती,
सचराचर में नव चेतना सहज संचरती।

दुग्ध स्नात वन-उपवन-जल-थल मधुरिम लगते,
जैसे नव यौवन में नूतन भाव उमगते,
शान्ति साधना जैसी बिखरी धुली चाँदनी,
सहज सुधारससिक्त बनारस बनी मधुबनी।

खिली रातरानी, बेला, चाँदनी, मनोहर
हरसिंगार के फूल उतुल सद्गन्ध सहोदर
मना रहे सानन्द जन्मदिन शुभ अम्बा का,
मानो था सान्निध्य मिल गया जगम्बा का।

× × ×

खेलती नित्य वह बाला अभिनव फूलों में,
हँसती झूलती सदा रेशम के झूलों में,
नृप की गोदी में, कभी खेलती माता से,
उसके विनोद सबको लगते सुखदाता से।

दौड़ती दुबक माँ के आँचल में छिप जाती,
मानो बदली के बीच चन्द्रिका मुस्काती,
नटखट बचपन की किलकारी से घर-आँगन,
था गूँज उठा काशी नरेश का अन्तर्मन।

तितलियाँ उड़ाती कभी पकड़ती उपवन में
ज्यों आता जाता क्षणिक त्याग है जीवन में,
खिलती कलियों को देख विहँसती हँसती थी
परझड़ते फूलों से हो व्यथित दहलती थी।

कहती हे सखी! बहारों में भी खार छिपे,
उजियालों के पीछे कितने अँधियार छिपे।
फूलों में विभा उभरती फिर मिट जाती है,
देखो गुलाब की बिखरी पाती-पाती है।

जिन पर तितली भौंरे पल भर मंडराते हें
उन फूलों के सब रूप रंग लुट जाते हैं।
कैसी विडम्बना है कैसा परिवर्तन है?
क्षण-क्षण बदलाव सहन करता यह जीवन है।

माधवी बहारें आतीं बहुत लुभाती हैं।
फिर क्षण में जाने किधर चली वे जाती हैं?
तन-मन वन उपवन क्या न यहाँ पर वंचित है,
परिवर्तन'वाहन से सब कुछ संघर्षित है।

यह प्रकृति पढ़ाती रहती है सबको हरपल,
पर हमी नहीं पढ़कर कर पाते पल उज्ज्वल।
जाने किसका जादू है? किसका टोना है?
फूलों की डाली बन जाती विष दोना है।

बचपन से ही पावन था अम्बा का चिन्तन,
सुख-दुख दोनों का करती थी सम अभिनन्दन।
वह चन्द्रकला-सी दिन-दिन बढ़ती जाती थी,
सुख सकल राज वैभव का अनुपम पाती थी।

लोरियाँ सुनाती माता मंजुल कविताएँ,
वीरों की और महापुरुषों की गाथाएँ।
आख्यान तेज-तप-त्याग और बलिदानों के,
हौसले बढ़ाते अम्बा के अरमानों के।

सुनती पुराण इतिहास कथा अवतारों की,
शृंखला सबल होती उन्नत संस्कारों की।
वह सुरबाला-सी अस्त्र-शस्त्र धारण करती,
अद्भुत प्रतिभा का दिन-दिन विस्तारण करती।

जो आज बना कुल गौरव हर्ष अमितदाता,
है वही एक दिन दुख के ज्वार जगा जाता।
उल्लास उमंग तरंगित है जिसके भीतर,
प्रतिभा का उन्नत सर लहराता लहर-लहर।

जो सबके उर आनन्द जगाने वाली है,
जिसकी हर करनी-कथनी मधुर निराली है।
'अम्बा' जो आज बन गयी है सुख का कारण,
था कौन जानता देगी दुःख असाधारण।

जिसके कारण हर मुखमण्डल पर है लाली,
उसके भविष्य में छिपी सघन बदली काली।
प्रारब्ध लेख किसका पढ़ पाया कौन यहाँ?
जो रहता हर पल, हर क्षण, हर दिन मौन यहाँ।

जब तक जीवन का पट वलक्ष है धरती पर,
जब तक न अंक में पंक लिपटता है आकर,
तब तक दृष्टियाँ समादर को उत्सुक रहतीं-
हैं, धन्य-धन्य जय हो-जय हो हरपल कहतीं,

पर जिस क्षण नियति भंग करवाती रंग एक,
फिर कहाँ चूकते व्यंग्य-बाण लगते अनेक,
जो गूँज रही घर-आँगन में है किलकारी,
है छिपा इसी में अपमानों का विष भारी।

यह सुधाधार टकरायेगी तलवारों से,
सिंचित कर देगी धरती रक्तिम धारों से।
है छिपा हुआ सब कुछ भविष्य की पर्तों में,
आकाश कुसुम कामना बिलखती गर्तों में।

कामना-कुसुम किसके न हृदय में मुस्काते?
पर वे कितने हैं जो यथार्थ में भी पाते?
यों ही अम्बा के जीवन की लीला विचित्र,
है अभी और होगा आगे कुछ और चित्र।

संस्कार महोत्सव में अनगिन दिन गये बीत,
लोरी किलकारी में बीता शैशव पुनीत,
आया कैशोर्य चपल हलचल-सा प्रथम बार
जैसे पावस घन बीच दमक-दामिनी हार।

घुंघराली लटें लटकती अरुण कपोलों पर।
या घेर रहे दामिनि को घन के श्यामल कर ॥
हैं नहीं दोलनोत्सुक लगते स्वर्णिम कुण्डल।
पूनमी चन्द्र में जाग उठी अद्भुत हलचल ॥

कुण्डल मणि की रश्मियाँ प्रकम्पित केशों में,
हैं उलझ गये य बादल सघन दिनेशों में।
छवि-छटा कपोलों की लगती युग मंगल-सी,
या हुई पाटलों की सुषमा कुछ चंचल-सी।

मृगशावक से चंचल दृग लगते नीलकमल,
या नीलम की घाटी में जगमग हलचल।
या अस्थिर खंजन से संयम के शत्रु प्रबल,
या छिपे अंक में पूनम के घनश्याम युगल।

अधराधर या कि प्रभाती का अभिनव प्रवास,
या कुरुक्षेत्र में सरस्वती का नव विकास।
या शान्त सरोवर में हर्षित उत्फुल्ल कमल
या माया में जग उठा ईश अनुराग नवल।

या दहक उठे किंशुकवन पूनम के आँगन,
या स्फटिक शिला पर कुसुमायुध है मनभावन।
या वासन्ती उपवन में गुड़हल हिले-मिले
हैं क्षीरधि में अरुणाम्बुज मानो अभी खिले।

है अंग-अंग में दीप्ति नवल निर्झरित त्वरित,
जैसे प्रयाग में सुरापगा है समुल्लसित,
ज्यों मन्द-मन्द-सी दीपशिखा है परमोज्ज्वल
ज्यों जल-पट ओढ़े हुए ज्योति झलमल-झलमल।

थे अंग-अंग मणिकोश अतुल छविमान हुए,
या रत्नसार संचित कर ज्योतिर्मान हुए।
थी अंग-अंग में कनक कान्ति आकर उभरी,
या स्वर्गिक सुषमा सिमट आज भू पर उतरी।

सादगी सकल वस्त्राभूषण ज्यों आँक रही,
वस्त्रों की गरिमा तोड़ दीप्ति नव झाँक रही,
चुपके-चुपके यौवन आ पहुँचा तन-मन में,
स्वर्णिम रश्मियाँ जगी जाने कब जीवन में?

यह कौन स्वप्न का जाल सुनहरा बुनता है,
अज्ञात व्यथा की कथा अनकही गुनता है।
खिल उठे कमल सोनल अम्बा के मानस में।
अभिनव जीवन की ज्योति स्नात अभिनव रस में॥

सज उठी त्रिवेणी तन-मन-यौवन की पावन,
बज उठी मधुर रागिनी अतल में मन-भावन।
श्रृंगार पर्व सज उठे सुगन्धित पाटल-से
जग उठे चन्द्रिका के सोपान समुज्ज्वल-से।

जागीं अन्तस में मधुर कामनाएँ सँवरीं,
ज्यों प्रथम बार विधु की किरणें नभ में उतरीं।
पौ फूट रही धीरे-धीरे उदयाचल पर,
या जगा रहे जलजों को प्रातः रश्मिल कर।

अमराई में कोयल आकर हो बोल उठी
या वासन्ती उपवन में पुरवा डोल उठी
या मेघों के झुरमुट में हो रश्मिल हलचल
या फूलों में मधुगन्धरास की प्रथम पहल।

जिस ओर दृष्टि रश्मियाँ बिखरती उपवन में,
संचित हो जाता है विधुरस जड़-चेतन में।
अधराधर कलियों के भी ठहर नहीं पाते,
मृदुहास पर्व से अनजाने ही सज जाते।

यौवन का नूतन मधुर दिवाकर जाग उठा,
मणि नागलोक की, तारे नभ के माँग उठा।
रेशमी रश्मियाँ आकर्षण की डोल उठीं,
मन-हिरना के संयम को रह-रह तोल उठीं।

मुख-कञ्ज-मञ्जु अम्बा का सुन्दर निर्विकार-
सौन्दर्य-सिन्धु के मन्थन का नवनीत-सार।
यौवन की धारा में सोने की नौकाएँ-
खे रहा न जाने कौन मौन गुन-गुन गाये?

वह सुमन लता-सी यौवन की कुन्दन-कुन्दन,
थी अंग-अंग सद्गन्ध मन्द चन्दन-चन्दन।
कंचन-कामिनी-कीर्त्ति का अद्भुत संयोजन,
लज्जित होता वाणी से नव कोकिल-कूजन।

दृग-झीलों में तैरतीं भाव मछलियाँ प्रचुर,
हो रही तरंगित विद्युत धारा अन्तःपुर,
है छलक उठी मादकता दृग की प्याली से,
सज उठी कपोलद्वयी कंकुमी लाली से।

तृण-तृण आनन्दित पद-पंकज का कर चुम्बन,
हैं आत्ममुग्ध हो रहे चराचर वन-उपवन।
फूटते हँसी के निर्झर छवि लगती उदार,
आहत करता मन भृंग प्रखर-चितवन-प्रहार।

प्राणों में वंशी बजती सुधा बरसती है,
आँसू की धारा चीर जिन्दगी हँसती है।
यह यौवन ही सद्‌गति-दुर्गति का दाता है,
यह सकल सृष्टि का अद्‌भुत भाग्य विधाता है।

यह चाहे तो संसार स्वर्ग-सा बन जाये,
यह चाहे तो मनुजत्व धरापर सुख पाये।
यह चाहे तो धरती-आकाश प्रफुल्लित हों,
यह चाहे तो सुख शान्ति सिन्धु संवर्द्धित हो।

पर यह यौवन कर्तव्य विमुख जब होता है,
जब घोर असंयम के पलने में सोता है,
निःसार ध्वंसधर्मा स्वप्नों को ढोता है,
तो फिर संकट के सोपानों में रोता है।

यौवन यौवन है चाहे नर हो या नारी,
वह नहीं समझता ज्ञान भक्ति परहितकारी।
वह कहाँ ज्योति के पर्वों का आदर करता
बस अन्धकार को खींच उम्र का घट भरता।

जो यौवन सत् चित को संचित कर पाता है।
वह जीवन भर मंगल आनन्द मनाता है।
दुख आता नहीं निकट सुख ही लहराता है।
वह सत्यं, शिवं, सुन्दरं का धन पाता है।

हैं पाप-ताप-संताप न आते पास कभी,
खण्डित न हुआ करता मन का मधुमास कभी।
अम्बा का यौवन भी अपार अति सुन्दर था।
रत्नों से भरा हुआ उन्मत्त समुन्दर था।

अनछुआ कुसुम अक्षत-अक्षत सब रूप-रंग,
वक्षोज नहीं, उन्नत है शुचि ममता अभंग।
था कौन जानता उसमें खार अपार भरे,
जो क्षणिक स्वप्न से लगते थे सब हरे-हरे।

यह यौवन जो दामिनी-दमक-सा आता है,
मन प्राण सभी में नूतन ज्वार जगाता है।
यह इन्द्रधनुष-सा कुछ पल ही मुस्काता है,
शारदी-घटा-सा जाने कब उड़ जाता है।

नृप लगे सोचने ब्याह योग्य पुत्री मेरी-
हो गयी, करूँ अब क्षणभर की भी क्यों देरी
भिजवाने लगे निमन्त्रण काशिराज सत्वर,
हर ओर गूँजने लगे मधुर मंगलमय स्वर।

हो उठे महल सब काशी के उन्नत श्री-वर,
आयोजन हुआ स्वयं वरने को इच्छित वर,
मंगल गा उठी मधुर सुरसरि की लहर-लहर,
था शाश्वत जीवनराग स्वयं हो उठा मुखर।

卐

यह कौन प्राण मेरे
रह-रह कर यों डोल रहा देखो,
लो एक-एक कर पृष्ठ कालगत
फिर-फिर खोल रहा देखो।
मैं बलोन्मत्त काशी पहुँचा
माता श्री की आज्ञा पाकर,
है जहाँ झर रहे तृण तृण से
मधुगन्धों के अजस्र निर्झर।

卐

3
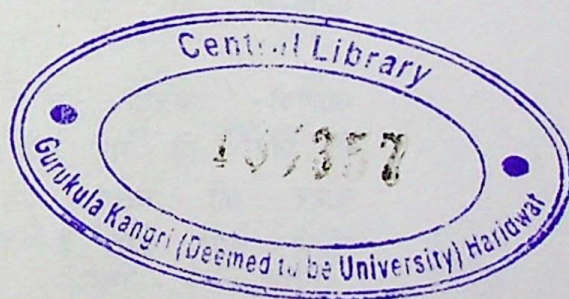
स्वयंवर

थी जुड़ी स्वयंवर सभा
वीर, सुकुमार अनेक पधारे थे,
नव हर्ष सिन्धु ने जहाँ
सहज ही अपने ज्वार उभारे थे।

मैं उसी सिन्धु में
बज्रशिला-सा कूद पड़ा क्रोधित होकर,
उस मधुर पर्व पर
बज्रपात-सा हुआ अचानक अशुभंकर।

ऋतुराज समुन्नत हैं
अखण्ड वसुधा पावन सद्‌गन्धती,
बौरे-बौरे-से हैं रसाल
कोकिला हो उठी गानवती।

अलियों कलियों के रास-रंग
हैं जगा रहे मन की गलियाँ,
बाहर की व्यथा कहें कैसे,
भीतर क्या कम हैं रँगरलियाँ?

दूल्हन-सी सजी हुई काशी
जगमगा रहा था अंग-अंग,
हर ओर मधुरता छलक रही
निखरा जीवन का रंग-रंग।

हर अधर मधुर मुस्कान धरे
हर ओर ज्योत्स्ना थिरक रही,
प्राणों के हिमगिरि से पावन
आनन्द सुरधुनी धार बही।

हैं ब्रह्मवादिनी लहर लहर
गंगा की स्वस्ति पाठ करतीं।
मांगलिक कलश चौकें मनोज्ञ
सांस्कृतिक चेतना संचरती।

सोपान प्रथम है राका का
पुलकित हो रहे सकल तारे,
निर्मल नीरव अम्बर असीम
नीलाम्बर रत्निल विस्तारे।

धरती को अम्बर, अम्बर को
धरती अनिमेष निहार रही,
भावना रश्मियों को अपनी
अपने में मौन प्रसार रही।

आकण्ठ चन्द्रिका में डूबे
गृह-मन्दिर राजभवन सारे,
भीतर-भीतर कुलबुला रहे
भावना-सिन्धु में सुख-तारे।

गंगा की नीरव धारा पर
चन्द्रिका रश्मियों का नर्त्तन,
दर्शनरत नक्षत्रों का हो
ज्यों धुला हुआ निर्मल दर्पण।

हर ओर शान्ति सद्भाव धर्म
अपने-अपने शृंगार किये,
जीवन के सुख की सुधाधार
से भरे हुए सानन्द हिये।

चन्द्रिका स्नानहित विधुवदना
बालाएँ उपवन में आयीं,
मधुमत्त लताएँ लज्जित हो
स्वागत में झुकीं मुस्कुरायीं।

मृण्मय में चिन्मय का अनुपम
करती अभिनव संचार चली
सुमनों में कलियों में नूतन
शृंगार धार विस्तार चली।

अधखुले शुभ्र नव अंगों से
श्रीदीप्ति छहरती चिर नवीन,
मलयानिल कर कोमलस्पर्श
सुख पाता हो जाता अदीन।

रस, रूप, रंग की समन्विता
जाज्वल्यमान प्रतिभाओं-सी,
हैं चम्पा, जुही, चमेली की
अभिनव गन्धिल धाराओं-सी।

अपने अदृश्य शर-चापों से
सब पर करती अधिकार चली,
भूलोक विजयिनी-सी अखण्ड
जग का करती शृंगार चली।

अम्बर पर राका ने अपना
मणिकोष अनन्त बिखेरा है,
विधु की सहचरी रश्मियों का
कुछ क्षण का और बसेरा है।

तम की तरंग मालाओं ने
इस लोक द्वीप को घेरा है।
बाहर-बाहर तम कम है पर
भीतर अँधियार घनेरा है।

धीरे-धीरे निज मौन
तोड़ते जाते हैं सब द्विज-कुटीर।
आ रहा सवेरा परम रम्य
प्राणों में भरता शुचि समीर।

आ रहे दिवाकर प्राची से
कर रहे कर्म-प्रेरणा दान,
चेतना जग उठी कण-कण में
आलोकित हैं विधि का विधान।

सज उठी स्वयंवर सभा
भव्य वन्दनवारों से द्वारों से
कोमल कलियों से, पत्रों से,
उत्फुल्ल गुलाब कुँवारों से।

सद्गन्ध सिंचिता रंगभूमि
आपूरित मधुर बहारों से
सिंहासन आसन गरिमामय
हो उठे वीर सुकुमारों से।

सहसा मन वांछित रसधारा
यौवन के संगम में छायी,
उद्वेलन करती हुई प्राण में
मादकता भरती आयी।

हर प्यासे में थी आह बढ़ी
विद्युल्लतिका के दर्शन हों,
वरमाल कण्ठ में कब आये
कब पूर्ण धन्य यह जीवन हो।

पुंखिल हो गया हृदय मन्दिर
साँसों की गति में प्रगति हुई,
डोली प्रज्ञा की कोर-कोर
चंचला स्वयं ही सुमति हुई।

है कौन खींचता बरबस मन को
अपनी ओर मौन स्वर में,
सुकुमार वेदना जगा रही
धीरे-धीरे उर-अन्तर में।

सपनों के कोमल इन्द्रधनुष
झलमला उठे उर अम्बर पर,
पर कौन जानता क्रूर काल
हर ले जायेगा सब छिपकर।

तीनों सुकुमारी बालाएँ
सखियों सँग मण्डप में आयीं,
रश्मियाँ रूप नवयौवन की
हर ओर मनोहर बिखरायीं।

कल्पना मूर्त्ति साकार सार
चैतन्य हो उठी डोल उठी,
उस रंगभूमि के कण-कण में
अमरत रस अभिनव घोल उठी।

देखते रूप की राशि अतुल
हो उठे समुन्नत सहज नयन,
खिलखिला उठे थे प्राणाम्बुज
जगमगा उठे थे कमलानन।

हे देव! दया के पट खोलो
जगमगा उठे फिर सुप्त-भाग,
यदि हो न सका यह सत्य
आज, तो छूटे जग जागे विराग।

जीवन की ज्योति जगमगाई
उद्दीप्त हो उठा वर-मण्डल,
चिन्तन के अम्बर पर उभरे
भावों के तारक-पुञ्ज नवल।

वह अतुल छटा छवि की
चुपके-चुपके नयनों में समा रही
कामना विरहिणी-सी व्याकुल
प्राणों में हलचल मचा रही।

रह गये स्वयंवर मण्डप में
अनिमेष दृगों के खंजन दल,
अप्रतिम रूप की सुधा
पान कर रहा नृपों का श्रीमण्डल।

पलकें उठतीं तो कुँवरों के
उर में प्रभात हो जाता है,
गिरतीं तो घिरता अन्धकार
घिरकर क्षण में गहराता है।

मृण्मय-चिन्मय का अद्वितीय
संगम पीयूषी धारा-सा,
पीकर भी प्यासा रहा
जीतकर भी रहता ज्यों हारा-सा।

कर में वरमाला अति प्रफुल्ल
उत्फुल्ल कमल सौभाग्यवन्त,
अनछुए कुसुम से अंग
विभूषित कर हैं भूषण-प्राणवन्त।

कामना कुसुम का सूत्रधार
मन है मन्मथ का सहचारी,
करता है उर का अनावरण
हो सके अगर सद्व्रतधारी।

यौवन के गन्धिल झोंकों में
संयम के उन्नत शृंग गिरे,
मादक धाराओं में गिरकर
सब डूब गये फिर नहीं तिरे।

है शेष नहीं रहती निजता
सम्पूर्ण समर्पण के क्षण में,
पर कहाँ अधूरे अधकचरे
टिक पाते हैं अपने प्रण में?

व्यय हो जाते हैं प्राण पूर्ण
प्राणों के ही संरक्षण में,
पर विजय पा सका कौन
धरा पर जीवन के अनन्त रण में।

है जुड़ी स्वयंवर सभा
कि प्यासे हिरनों का जमघट-सा है,
यह याकि अबोले अरमानों का
सजा हुआ पनघट-सा है।

नर जीवन का सौन्दर्य सिमटकर
यौवन साँचे मध्य ढला
शुचि अंगराग अनुराग कणों से
होश उड़ाता हुआ चला।

लो होने लगा अंकुरण मधुमय
भावों की वर क्रीड़ा का,
हैं करने लगीं कनक लतिकाएँ
मधुर दान उर पीड़ा का।

नव दृग के व्याध असंख्य
शरों से करने लगे प्रहार प्रबल,
सब नृप, कुमार शरविद्ध हो रहे
ज्यों बेबस मृग हंस निबल।

प्रणयाकांक्षा के बन्धन में,
जब कोई भी बँध जाता है,
अपने भीतर की अबुझ आंग में
तिल-मिल कर जल जाता है।

है एक रत्न जो जगा रहा
आतुरता सबके उर-अन्तर।
कामना सुहागिन हो न सकेगी
यहाँ किसी की जीवन भर।

जो नयनों से करके प्रवेश
प्राणों तक ज्योति जगाती है,
वह सुघर सलोनी छवि लोनी-सी
सब जीवन खा जाती है।

ओ मौन भरे सौन्दर्य !
मौन रहकर भी सब कह जाते हो,
हो तुम्हीं धरा पर लाते फिर,
फिर पीछा तुम्हीं छुड़ाते हो।

वर-मालाओं से शोभित कर
अरुणाम्बुज से बालाओं के,
हैं इच्छित वर की ओर बढ़ रहे
पग मन की आशाओं के।

इस घूर्णित कालचक्र में
कुछ भी स्थिर न यहाँ रह पाता है,
आता है कभी प्रकाश
कभी तो तम अपार छा जाता है।

है कौन जानता यहाँ
घड़ी भर में क्या घटने वाला है,
रस-रास-रंग के मध्य
क्षणों में जगने वाली ज्वाला है।

बैठे थे मौन अतिथि नृप गण
उर आशाओं के दीप लिये,
पर देवव्रत ने निपट निराशा
के घन-मण्डल घेर दिये।

फिर एकाएक सभा में
भीषण सिंहनाद गुंजार हुआ,
सबके स्वप्निल अन्तर्मन में
अद्भुत भय का संचार हुआ।

"हो सावधान! मैं देवव्रत
घोषणा सभा में करता हूँ।
जो हो समर्थ रक्षा कर ले,
सब कन्याओं को हरता हूँ।

हैं चारों तरफ मृत्यु के बादल,
घुमड़ रहे अब मत हिलना।
आसन से वह ही उठे,
मृत्यु से जिसे शीघ्र ही हो मिलना।

ये मनोनीत कुलवधुएँ मेरी
इन्हें न कोई छू सकता,
कुरुकुल का हैं मंगल सिंगार
देखूँ तो कौन इन्हें वरता?

मिट्टी के पुतलो!
वीरों की भाषा बस वीर समझते हैं,
याचक बनते हैं नहीं
सिंह इच्छित हर वस्तु झपटते हैं।

मेरे प्रचण्ड रोषानल में
गिरने का कुछ साहस न करो,
जाओ जाकर के जियो चैन से
व्यर्थ न मेरे हाथ मरो।

हे वीरो! बढ़ो राजकन्याओं को
निज रथ पर बैठा लो,
पथ की बाधाओं को क्षण में
बस टुकड़े-टुकड़े कर डालो।''

इतना कहकर कन्याओं को
बलपूर्वक रथ पर बैठाया,
वीरों को कर संकेत
हस्तिनापुर पथ पर था दौड़ाया।

हो सका प्रकाश नहीं क्षणभर
तमसाविल जीवन गह्वर में,
बस जलती-बुझती रही भावना-
ज्योति क्षणिक उर-अन्तर में।

जग उठी चेतना क्षणभर को थी,
भीष्म पितामह की सोयी,
उर-नभ पर बिजली की रेखाएँ
खींच रहा मानो कोई।

है किन्तु काल की गति अमोघ
मुश्किल रहती हर ओर खड़ी
थी किये हुए पद दलित प्रणशिला
नियति नटी खिलखिला पड़ी।

''सुन अरे भीष्म! सब कुछ होकर भी
कुछ न कभी हो पायेगा,
प्रण के सूने से खँडहर में
तू घुट-घुटकर खो जायेगा।

तेरे जीवन की बगिया में
हैं कहाँ रूप, रस, गंध लिखे,
बस शुष्क वृक्ष से शीत-ताप के
घोर सघन प्रतिबन्ध लिखे।

है नहीं तुम्हारे अन्तःपुर हित
ज्वार भरी चाँदनी लिखी,
प्राणों में भर दे रम्य शान्ति
जो वह न मधुर रागिनी लिखी।

बस प्रणय सुधाघट छोड़
उपेक्षा के विष कुम्भ पियो प्यारे!
संकल्पों की ज्वालाओं में
बस जलते हुए जियो प्यारे!

मैं विवश न कुछ भी कर सकती
सुख-दुख दोनों से ही वंचित;
दे सकती उसको वही कि-
जिसको जो कुछ भी होता संचित।''

●●

卐

तीर-तीर पर तीर चुभे हैं शेष भोग-से तन में,
और असंख्यक घाव लगे हैं मेरे अन्तर-मन में।
शरशैया पर पड़ा हुआ तन, मन चिन्तन धारा में,
डूबा हुआ अतीत खण्ड की दंशक कटु कारा में।

भीतर-बाहर साथ-साथ है सदा बहीं खर धारा,
बनी जिन्दगी की सहचरिणी कुण्ठाओं की कारा।
हम सुख-दुख सन्त्रास-ह्रास में हरपल पचे-तचे हैं।
आत्मेक्षण के लिए अन्त के कुछ क्षण शेष बचे हैं।

卐

4

हस्तिनापुर

''कौन मधुर छाया-सा मेरे उर में डोल रहा है,
अश्रुसिक्त स्मृति पट को धीरे-धीरे खोल रहा है।''
''मैं हूँ शेष चेतना, तुमसे कुछ कहने आयी हूँ,
जीवन की गलियों में खोयी व्यथा-कथा लायी हूँ।

होकर तुम धर्मज्ञ रहे तत्पर अधर्म रक्षण में,
शब्दायित कर दूँ अतीत के कुछ क्षण अन्तिम क्षण में।''
''अरी चेतने! कुछ अतीत के पन्नों का वाचन कर,
तिरस्कृता अम्बा से मेरी वार्त्ता का वर्णन कर।

मेरे कारण ही उसने दुख-दाह अपार सहे हैं,
उर में है अपराध-बोध लेकिन दृग नहीं बहे हैं।''
''भीष्म! हरण कर अम्बा को तुम काशी से लाये थे,
मधुर कामनाओं के अंकुर मन में उग आये थे।

प्रासादों की पैशाचिक छवि में फिर जगी हँसी थी,
पूर्व समृद्ध हस्तिनापुर की परम्परा विकसी थी।''
''हाय अभागा! सुनू कहाँ तक स्वर अतीत वीणा से,
कर लूँ भजन, छीन लूँ कुछ क्षण असहनीय पीड़ा से।''

''किन्तु प्रतिज्ञा की दृढ़ता ने तुमने बचा लिया था,
घोर आँधियों में भी बुझने दिया न चरित दिया था।
सिंहासन रक्षण की चिन्ता तुमको सता रही थी,
स्वर्ण छत्र के संरक्षण की ज्वाला जला रही थी।

सृजन ध्वंस की सूत्र सर्जिका धरा समृद्ध प्रचुर है,
श्वेत-श्याम पृष्ठों से मण्डित ग्रन्थ हस्तिनापुर है।
जिसके शंखनाद पर श्रद्धानत दिग्गज होते थे,
जिसके हँसने पर हँसते थे रोने पर रोते थे।

राज महिषियाँ जहाँ अश्रु वैधव्य रही पाती हैं,
विवश कैद पाषाणों में घुट-घुटकर रह जाती हैं।
आती ब्याह किन्तु अनब्याही दग्ध कामना होती,
रूढ़ि-पाश में बँधी हुई मृतका-सी काया ढोती।

न्याय धर्म के उच्चकथन वाणी से जहाँ मुखर हैं,
वहीं अधर्माचरण बने सब ओर अघोर प्रखर हैं।
जहाँ स्वार्थ के लिए उचित, सब अनुचित बन जाता है,
नीति और आचरण जहाँ वाणी तक रह पाता है।

जहाँ शक्ति सत्ता लिप्सा ताण्डव नर्तन करती है,
लाक्षागृह रच छद्‌म द्यूत का आयोजन करती है।
जहाँ अदम्य वासनाओं के ज्वार उठा करते हैं,
लाभ हानि यश अपयश से जो कभी नहीं डरते हैं।

जहाँ पुत्र के अरमानों की होली पिता जलाते,
बूढ़ी काया पर पाटल की गन्ध बलात चढ़ाते।
जहाँ न्याय-अन्याय बना है सत्ता रनिवासों में,
जहाँ कठिन अभिशाप उपजते ज्वारिल निःश्वासों में।

उत्कर्षित हो रहे जहाँ छलकपट दोष विषधारी,
धर्म-कर्म, लज्जा, मानवता रहती है दुखियारी,
सत्तालिप्सु हस्तिनापुर ने क्या न अनर्थ किया है,
समर-अग्नि में पूरे का पूरा कुल झोंक दिया है।

× × ×

अष्टमवसु अवतार भीष्म संकल्प अटल मुद्रित है,
ब्रह्मचर्य है जहाँ विवश दृढ़ प्रण से प्रतिबन्धित है।
ब्रह्मचर्य का भाव कहाँ हनुमत-सा सहज उदित है,
कठिन प्रतिज्ञा से जकड़ा वह असहज और दमित है।

दृढ़ है यदि संकल्प वेग मन के सुधार देता है,
पतनधर्मिणी तुंग-तरंगें सकल मार देता है।
नित्य मधुर शृंगार हुआ करते हैं मन मन्दिर में,
जगता है अचिरत्व न जाने क्यों अन्तर के चिर में?

गंगासुत ने जीवन में सुख नहीं कभी पाया है,
उर-अन्तर में सघन दुःख का अन्धकार छाया है।
जीवन की रागिनी जहाँ हरपल बस विवश रही है।
जहाँ भावनाओं की कृष्णा पाती नहीं मही है।

जहाँ कामनाओं के पंछी मन-पंजर में रहते,
नहीं कभी उन्मुक्त गगन में पंख पसार चहकते।
जहाँ व्यथा की कथा मौन हो धिक् धिक् करती रहती,
संकल्पों की बाढ़ दाढ़-सी उसे कुचलती रहती।

जहाँ धर्म के बन्धन से वह विवश बँधी रहती है,
कुण्ठाओं की कठिन मार सैरन्ध्री-सी सहती है।
दमित चित्त व्यक्तित्व दीखता ऊपर रजत शिखर है,
अभ्यंतर में कुत्साओं का अर्चिजाल दुस्तर है।

सहज संयमित जीवन में यदि ब्रह्मचर्य पावन हो,
परम भाव से पूरित हो तो शान्ति स्वयं चन्दन हो।
प्रबल धैर्य हो और मधुरतम धर्माचरण धवल हो,
सत्य, शील, सद्भाव श्रेष्ठ हो ज्ञान परम उज्ज्वल हो;

तो यह ब्रह्मचर्य की प्रतिभा दिन-प्रतिदिन जाग्रत हो,
बन जाये आदर्श हर्ष से पृथिवी पर आवृत हो।
मनोजगत जब तक है त्रिगुणातीत नहीं हो पाता,
ब्रह्मचर्य का परमभाव तब तक न सहज है आता।

संयम की प्राचीर तोड़कर यदि यौवन बहता है,
तो जीवन में कुण्ठाओं की कठिन मार सहता है।
ब्रह्मचर्य स्वयमेव सहज ही उदित और पोषित हो,
ब्रह्मचर्य केवल न प्रतिज्ञा से ही अनुबन्धित हो।

भीष्म मनोरथ के हय सत्वर बढ़े चले जाते हैं,
किन्तु प्रतिज्ञा वल्गा को वे नहीं तोड़ पाते हैं।
मन की गति है अकथ चन्द्र-सी बढ़कर घट जाती है,
किंकर्तव्यविमूढ़ भावना जगती पछताती है।

विष्कम्भक संकल्प-विकल्प सहेजे सम्पादित हैं,
किन्तु नहीं प्रत्यक्ष भाव कोई भी उद्घाटित हैं।
मधुगन्धों के ज्वार हार बन सके नहीं जीवन में,
ज्वालामुखी कामनाओं के शान्त रह गये मन में।

हाय! कौन-सा कर्म कौन-सा फल देने वाला है?
इस रहस्य पर सदा काल का लगा रहा ताला है।
प्रण का पहरा तोड़ विहग उड़ सका न मुक्त गगन में,
पंख फड़कता हुआ रह गया बेबस पंजर-तन में।

× × ×

कुरुकुल की भावी वधुएँ आ गयीं हस्तिनापुर में,
सुसज्जिता सुरबालाओं-सी शोभित अन्तःपुर में।
समर विजय से प्राप्त रत्न त्रय गंगासुत लाये थे,
सत्यवती माँ के उर-नभ पर हर्ष-मेघ छाये थे।

'अम्बालिका' 'अम्बिका' 'अम्बा' महलों में थीं आयीं,
याकि वसन्त बहारें षोडष उन्नत होकर छायीं।
मंगलकृत्य स्वस्तिवाचन हर ओर ध्वनित होते थे,
नव उल्लास उमंग तरंगित प्रतिदर्शित होते थे।

दान-मान-सम्मान द्विजों का होने लगा विपुल था,
महलों का शृंगार मांगलिक खुशियों का संकुल था।
आशाएँ बलवती हुईं कुरुकुल के विस्तारण की
पुण्य त्रिवेणी वधू-त्रयी से कुल के उद्धारण की।

रुग्ण और कृशकाय कुँवर वर के जीवन अभिनव की,
तैयारी हो गयी पूर्ण पावन परिणय उत्सव की।
भावी पति की दशा देख अम्बा आसन्न हुई थी,
अंधकार गह्वर भविष्य से चिन्तापन्न हुई थी।

अपनी चिन्ता नहीं उसे थी चिन्ता निज बहनों की,
बिखर रहे सजने से पहले उन स्वर्णिम सपनों की।
''नर समर्थ को दोष नहीं कोई देने वाला है,
सत्ता और शक्ति के मद में कैसा मतवाला है।

विषय कूप का दादुर है हरपल शिकार करता है,
लाज-वसन ममता के पामर तार-तार करता है।
कोमल-लता बबूल-शुष्क से क्यों लिपटायी जाती?
धृतवाही धारा तापित मरूथल में लायी जाती।

वर के सिर पर मृत्यु नाचती-सी मुझको दिखती है,
अस्थि मात्र आनन की धूमिल दीप्ति मरी लगती है।
हाय! राजमहलों से तो वैधव्य चिंघाड़ रहा है,
निष्ठुरता से मधुर भावना-पट को फाड़ रहा है।

जगी हुई भावना क्रोध को पीकर रह जाती है,
और कठिन प्रतिशोध क्रान्ति-सी उठती ढह जाती है।
दृष्टि पिशाची क्रोध-अग्नि में घृत डाला करती है,
किन्तु विवश भावना उसी क्षण घुटती है मरती है।

जी करता है गला घोट दूँ मैं इन चण्डालों का,
या प्रवेश करवा दूँ सीने में ही करवालों का।''
आतुर है क्षतवीर्य कुँवर अनछुए अधर अमरत को,
धधक रहा अम्बा का उर है लिये भविष्यत मन को।

मन में मधुर कामनाओं की लाशें बिछी हुई हैं,
भाँय-भाँय करता उर-अन्तर भौंहे खिंची हुई हैं,
किन्तु विवश नारीत्व गलित हो आड़े आ जाता है,
जगी हुई ज्वालाओं पर लज्जा जल बरसाता है।

''कैसा है विधि का विधान कुछ समझ नहीं आता है,
अपने इंगित से वह जैसा चाहे करवाता है,
हाय! विधाता ने आखिर यह क्या आकलन किया है
देवों के आँसू समेट नारी का सृजन किया है।

रचकर दुर्बल भाग्य न्याय का मुख ही श्याह किया है,
पीड़ाओं का पंक अंक में मेरे डाल दिया है।
मर्यादाओं से बन्धित यह तन ही व्यर्थ बनाया,
इसके ही कारण जीवन में संकट-वन उग आया।''

कहती है कुछ और और कुछ मुखरित होता स्वर में,
भीषण अन्तर्द्वन्द्व मचा है अम्बा के अन्तर में,
यों तो नारी का उर-अन्तर है पूर्णिमा समुज्ज्वल,
किन्तु कभी रणचण्डी बनकर जाग्रत करती सम्बल।

कभी मनस में आशाओं के मधुर फूल खिलते हैं,
और कभी क्रोधानल के विध्वंसक स्वर मिलते हैं।
''बलिवेदी से अधिक भयंकर यह परिणय वेदी है,
जिसने जुही चमेली को अंगार-भेंट दे दी है।

किन्तु मैं नहीं किसी तरह यह परिणय स्वीकारूँगी,
नहीं पाटली-यौवन को अब कंटक पर वारूँगी।
यदि न भावनाओं को मेरी मृदु श्रृंगार मिलेगा
प्रण करती हूँ, नहीं कभी तो प्रणय-प्रसून खिलेगा।''

अम्बा ने निज मनोभाव सब माता से बतलाये,
सत्यवती को अपने चिन्ता-पृष्ठ सभी दिखलाये।
''माता! मुझको क्षमा करो, कुलवधू न बन पाऊँगी,
अपर पुरुष का चिन्तन मन में मैं न कभी लाऊँगी।

भारतीय नारी न वरण करती है अपर पुरुष को,
हो जिससे अनुराग समर्पण करती है बस उसको,
जल न सकेगा और कहीं अब वह मैं मौन दीया हूँ,
साल्वराज मेरे प्रिय हैं मैं उनकी मनोप्रिया हूँ;

''और स्वयंवर से ही मुझको देवव्रत हर लाये,
मेरे मन के रंग भंग कर दृग में अश्रु उगाये।
हुईं भावनाएँ, सब आहत, जीवन हुआ कलंकित
वर्तमान की झझाओं से है भविष्य आशंकित।

कौन समर्थ शक्ति सत्ता को यहाँ रोक पाया है?
हुआ वही है यहाँ कि उसको जो कुछ भी भाया है।
दया करें अविलम्ब अम्ब! मेरा अभीष्ट दिलवा दें,
मुझको मेरे साल्वराज के चरणों में पहुँचा दें।''

"पुत्री! तूने साहसकर सच कहकर उचित किया है,
और धर्म पालन का मुझको समुचित समय दिया है।
नारी हूँ नारी की मैं भावना समझ सकती हूँ,
ज्वलित कामनाओं के उपवन में यद्यपि रहती हूँ।

पुत्री! जो दुर्भाग्य अंक में अपने गया लिखा है,
पदे-पदे बस वही धरा पर आकर यहाँ मिला है।
चिन्ता मत कर तुझको वांछित वर तक पहुँचाऊँगी,
नहीं बलात् कामनाओं को तेरी जलवाऊँगी।

देख परिजनों पर संकट मैंने भी कष्ट सहे हैं,
राजदण्ड की काली छाया में सुख स्वप्न ढहे हैं।
पुत्री! इसी मदिर यौवन ने मुझको दुःख दिया है,
कुटिल दृष्टि से भस्म हुई अरमानों की कुटिया है।"

धर्मविदों से परामर्श कर सत्यवती ने सत्वर,
साल्वराज के पास पठाया था अम्बर को सादर।
अम्बा के मन में खुशियों का महासिन्धु उमड़ा था,
मधुर कामनाओं का नूतन घटा जाल घुमड़ा था।

कभी गुलाबी महक दौड़ जाती थी उसके तन में,
कभी वसन्त बहारें नर्त्तन कर उठती थीं मन में,
छटा इन्द्रधनुषी मन में फिर-फिर उभार पाती थी।
अपनी धुन में खोयी जाने क्या-क्या वह गाती थी,

किन्तु जानती नहीं कामन-कुसुम न खिल पायेंगे,
खिलने से पहले ही सारे भाव बिखर जायेंगे।
भावुकता के भँवर भावनाओं को पी जायेंगे
निष्ठुर छली-बली क्षणभर भी मोह न कर पायेंगे।

जगी हुई यह दीपशिखा शृंगार न कर पायेगी,
नयन पात्र के अश्रुसिन्धु में गिरकर बुझ जायेगी।
भीतर के शृंगार सहमकर भीतर मुरझायेंगे,
कर्पूरी ये स्वप्न क्षणों में जलकर उड़ जायेंगे।

× × ×

मिलने आये साल्व किन्तु वे मन से खिन्न प्रचुर थे,
बदले हुए मुखौटा, बदले-बदले उनके सुर थे,
किन्तु कथन करते कुछ भी, अम्बा ने किया निवेदन-
''चरणों की सेविका आज करती सम्पूर्ण समर्पण।

जीवन के किरीट, मेरे अन्तस में समा गये हो,
जो न विसर्जित हुई एक क्षण वह अक्षर प्रतिमा हो,
एकमात्र तुम ही स्वामी हो मेरे तन-मन-धन के
रसिक शृंग हो तुम ही मेरे यौवन नन्दन वन के।''

''बस कर मत उपहास मौन हो, पहले ही हूँ पीड़ित,
जीवन के किरीट कहकर करती क्यों मुझे कलंकित,
अब न रहा सम्बन्ध रंच भी अम्बे! तुझसे मेरा
तेरे कारण ही पाया मैंने अपमान घनेरा।

निर्लज्जता तुम्हारे मुख पर बदली-सी छायी है
कौन प्रयोजन से अम्बा! तू आज इधर आयी है?''
प्रिय के अप्रिय शब्द तीरे-से लगे हृदय में धँसने,
चरणों के नीचे से मानो धरती लगी खिसकने।

चकराया सिर अम्बा का, क्षणभर में किन्तु सम्हलकर,
उर-अन्तर से शब्द निकल अधरों पर आये सत्वर।
''आज अप्रत्याशित-सी भाषा क्योंकर बोल रहे हो?
क्यों वाणी शृंगार हीन, क्यों कटुता घोल रहे हो?

मन का सुमन, हृदय का उपवन वैसे ही गन्धित है,
घोर प्रतीक्षारत सुकुमारी वरमाला लज्जित है,
नीलकमल से नयनों में तो अश्रु उगे रहते हैं,
मधुर मिलन की मधुर-वेदना कथा नित्य कहते हैं।

हुआ स्वयंवर भग्न, नियति से अब तक घबरायी हूँ,
स्वयंवरा में स्वयं वरण करने को अब आयी हूँ।''
सुनकर कुछ अचकचा गये थे साल्वराज भीतर से,
लगे उगलने जहर प्रखर विद्युत प्रवाह के स्वर से।

''सावधान बाले! तेरे स्वर कठिन घात करते हैं।
जले हुए मेरे घावों पर नमक व्यर्थ धरते हैं।
मौक्तिक ही चुँगते मराल या भूखे रह जाते हैं,
कंकर-पत्थर, किनका-तिनका वे न कभी खाते हैं।

कभी सिंह आखेट दूसरों के न ग्रहण करते हैं,
खुद करते अपना शिकार हैं और पेट भरते हैं।
अम्बे! तू उच्छिष्ट भीष्म का गर्हित और घृणित है,
हो अपहृता हस्तिनापुर महलों में रही, विदित है।

सकल भाँति सकलंक, अंक को मेरे चाह रही है,
लज्जा आती नहीं तुझे क्यों मुझको डाह रही है।
धधक रहा है हृदय शून्य की अगणित ज्वालाओं से,
और न आहुति डाल शब्द की निर्मम समिधाओं से।

व्यर्थ बढ़ेगी अग्नि अग्नि का धर्म न किसे विदित है,
अवसर पाये अग्नि धर्महित यह भी नहीं उचित है।
बस कुछ और नहीं कहना है जा चुपचाप यहाँ से
काशी को जा चली याकि फिर आयी इधर जहाँ से।''

सौभराज के शब्द याकि अंगार झरे अम्बा पर,
बरस पड़े या शीशमहल पर प्रखर वेग से पत्थर।
थी निस्तब्ध रह गयी अम्बा सपने बिखर गये थे,
आशा के सोपान मधुर क्षणभर में उजड़ गये थे।

मिटी पूर्व प्रियतम की छवि थी सौभराज आनन से,
प्रतिबिम्बित थी हुई क्रूर वंचना आज आनन से।
गरज उठी जो रही अभी तक सजल घटा पावस की,
मुखर हो उठीं अग्नि ऋचाएँ अम्बा के अन्तस की।

"साल्वराज! मिथ्याभिमान-घन-गर्जन क्यों करते हो?
अपने मन की दुर्बलता का वर्णन क्यों करते हो?
भरे स्वयंवर में जब हम तीनों का हरण हुआ था,
उस क्षण कहाँ तुम्हारे बल विक्रम का मरण हुआ था?

बढ़कर लड़ते और भीष्म से मुक्त कराते मुझको,
दिखलाकर रण कौशल अपना त्वरित बचाते मुझको,
तब तो दुर्बल श्वान सदृश तुम पूँछ दबाकर भागे,
आज गरजते हो एकाकी मुझ अबला के आगे।

तन-मन कुटिल अमावस तेरा वस्त्र उजालो जैसे,
ओढ़ शेर की खाल आचरण किये शृगालों जैसे।
मुझे मिले छल और प्रवंचन जीवन में हैं अब तक
समझा जिसे पुरुष था मैंने निकला निरा नपुंसक।

सघन मदन सन्त्रास भरा जीवन भी क्या जीवन है?
कायर की पत्नी बनने से उत्तम आत्मदहन है।
घोर पलायनवादी नर, नारी से भी दुर्बल है,
खड़ा हुआ गोधूम क्षेत्र में वह धोखा केवल है।

अम्बा थी नैवेद्य आज भी वह नैवेद्य मधुर है,
कुन्दन जैसा खरा, धधकता अब तक अन्तःपुर है।
सौभराज! तू जा कर अपना राजकाज संचालन,
देखूँगी अब भाग्य करेगी कब तक नंगा नर्त्तन?

देख-देख कर खेल भाग्य का बार-बार हँसती हूँ,
विदुषी होकर जगड्वाल में जाने क्यों फँसती हूँ?''
चले गये थे साल्वराज नतशीश अतिथिशाला से,
निकल चुके थे जैसे अम्बा की मन-मधुशाला से-

और चल पड़ी थी अम्बा हस्तिनापुरी को सत्वर,
तमसावृत रजनी-से सपने श्याम लिये उर-अन्तर।
भीतर का तम बाहर भी हर ओर घिरा पड़ता था,
वह कोमल मुख कंज साल्व का कंटक-सा गड़ता था।

उन्नत था तम तोम धरा अम्बर की रखवाली में,
भरे हुए हीरक असंख्य नभ नीलम की थाली में,
धरती से अम्बर तक था अज्ञान सघन छाया है,
या ब्रह्माण्ड विजयिनी-सी उल्लसित हुई माया है।

या कज्जल अम्बुधि, निर्झर झर-झर कर एक हुए हैं।
श्याम-श्याम नीरवता-राधा मिलकर एक हुए हैं,
या कि विसर्जित हुए सभीरस रास रंग वसुधा के,
डूबे हुए निराशा में निर्झर कामना-सुधा के।

किंकर्तव्यविमूढ़ा-सी सूने पथ पर एकाकी,
अलग-थलग नीरस कलिका-सी संसृति की माला की,
मन में आता जल समाधि लूँ, अग्नि प्रवेश करूँ या,
करने को निःशेष भोग जीवित संतप्त रहूँ या।

घोर उपेक्षानल में यों ही कब तक विवश दहूँ मैं?
आखिर है अपराध कौन जिस कारण दण्ड सहूँ मैं?
जीवन का वैभव विलास छूकर भी छुई मुई हूँ,
आते ही वरमाल हाथ में हतभागिनी हुई हूँ।

जीवन की रसधारा में संकट गिरि आन पड़े हैं,
भीतर-बाहर अपमानों के अग्नि स्तम्भ खड़े हैं,
जी करता है लोक-निष्ठुरता को मैं आग लगा दूँ,
मूलोच्छिन्न स्वार्थ को कर दूँ कटु अन्याय मिटा दूँ।

नारी! तू वासना अग्नि की केवल घृत आहुति है,
अपनी नहीं लोक रंजन के लिए लोक-संस्तुति है।
आखिर क्यों अन्याय हाय! नारी के लिए बना है?
क्योंकर उसके लिए घोर शोषण अभियान ठना है?''

प्रथम लौट काशी को आयी अम्बा दुखियारी-सी,
किन्तु मिला अपमान तिरस्कृत हुई दाँव हारी-सी,
नहीं शरण मिल सकी एक पल अपने राजमहल में
सकल दृष्टियाँ बुझी हुईं थीं मानो घोर गरल में।

व्यंग्य-बाण की वृष्टि दृष्टि की पावक जला रही थी,
मौनव्रती-सी हुई आज जो अति चंचला रही थी,
सोंच रही ''बादल फट जाये या धरती फट जाये-
धँस जाऊँ मैं मिट जाऊँ सारा संकट हट जाये;

किन्तु शेष है अगर भोग तो सब कुछ सहना होगा,
परमेश्वर चाहेगा जैसे वैसे रहना होगा।
हे मेरे प्रारब्ध! नमन तुझको तू साथ चला चल,
चाहे अमरत पिला मुझे तू चाहे पिला हलाहल।''

बनी याचिका फिर अम्बा कुरुवंश द्वार पर आकर,
बोली भीष्म पितामह से करबद्ध प्रणत सविनय स्वर-
"हे गांगेय! मधुर आशा आधार अभी अम्बा के,
ध्वस्त हो चुके और शरण सोपान सभी अम्बा के।

चरण शरण देकर जीवन को अभिनव रस से भर दो,
हर लो सब संकट कंटक मन उपवन गन्धित कर दो।"
"अम्बे! हम कुरुवंशी हैं प्रणभंग न कभी करेंगे,
मर्यादा हो शिथिल, आचरण वह हम नहीं करेंगे।

वरण हेतु आजन्म व्रती को क्यों प्रेरित करती है?
नारी होकर भी अरे क्यों नहीं लज्जा से डरती है?
मैं अखण्ड प्रण पथिक नहीं पथ से पग रंच टलेगा,
तुझ त्यक्ता को कुरुकुल का सेवक भी नहीं वरेगा।"

"पितृ तृप्ति के लिए कठिन संयम व्रत करने वाले,
जीवन का मधुमास विकट लपटों से भरने वाले।
बिना विचारे ही संयम का बड़ा कठिन निर्णय है,
क्योंकि यौवनोन्माद बड़ा ही दुष्ट और निर्दय है।"

कर देता संकल्प शिथिल जप तप को खा जाता है,
मन की चंचल धाराओं में सद्गुण दुख पाता है।
अरे महानर! अग्निसिन्धु संतरण बड़ा दुस्तर है,
छोड़ सुधाघट पान कर रहा क्योंकर गरल प्रखर है?

गंध लुटाती हुई चाँदनी से क्यों भाग रहे हो?
यौवन के आनन्दभवन में क्यों भर आग रहे हो?
शुष्क हो रहे इन अधरों को अमरत धार पिला दो,
अपनी सोनल दृष्टि रश्मि से जीवन-कमल खिला दो।

हाय! तुम्हारा हृदय कठिन पाहन से भी पाहन है,
जो न पिघलता देख हमारा दीपित चन्द्रानन है,
जो मनोज्ञ रस-राशि नचाती धरा और सुरपुर को,
हाय! अनसुना किये दे रहे आप उसी नूपुर को।

नूपुर की झनकार सार सब मन्त्रों का भूतल पर,
मधुर-मधुर चेतना घोलती प्राणों में प्रिय अक्षर।
जहाँ जिन्दगी की सारी ध्वनियाँ लय हो जाती हैं,
जहाँ ज्ञान की अग्निशिखाएँ शीतलता पाती हैं।

जहाँ मधुरता के मादक सोपान सँवर जाते हैं,
शीशमहल संयम के क्षण में जहाँ बिखर जाते हैं,
जहाँ सृजन के धर्म कर्म में तत्पर हो जाते हैं,
जहाँ रसिक मन भृंग भूल सब सुध-बुध खो जाते हैं।

वही रूप की सुधा पान करने में घबराते हो?
पौरुष के प्रतिरूप विवश क्यों सिर न उठा पाते हो?''
''बाले! मैं हूँ पिता तुल्य यों वचन व्यर्थ मत बोलो,
जीवन की इस सुरापगा में यों न हलाहल घोलो।

मैं हूँ गंगापुत्र पिता के वचनों का रखवाला,
ब्रह्मचर्य का व्रत अखण्ड मैंने है अब तक पाला।
भीष्म-प्रतिज्ञा सुदृढ़ सबल है झुकना नहीं जानती,
जीवन में वह लक्ष्य छोड़कर कुछ भी नहीं मानती।

नारी! तूने कर प्रहार वीरों को भटकाया है,
लक्ष्यभ्रष्ट कर संयम को, अवनति पथ दिखलाया है,
नारी की यदि यही शक्ति सन्मार्ग धर्मिणी होती
तो न साधना ब्रह्मचर्य की भूमण्डल पर रोती।

तूने नारद जैमिन से ऋषियों में ज्वार जगाये,
तूने विश्वामित्र पराशर व्यास अद्रि भटकाए।
तेरी दृष्टि अमोघ शक्ति है आदि वेधने वाली,
कौन पार पाया है तुझसे तेरी गति मतवाली।

सोचा है क्या कभी पुरुष की सत्ता के सम्बल को,
जो सबमें बसता समान है उस अखण्ड उज्ज्वल को
वही पुरुष तेरे भीतर भी हर पल रहा निवस है,
जो मेरे उर मन्दिर में चिर नूतन सहज सरस है।

जब तुझको अखण्ड संलग्नक-सा वह पुरुष मिला है,
फिर क्योंकर परपुरुष प्रेम का यह दुर्भाव खिला है?
क्यों न समर्पण करो चिरन्तन के चरणों पर अन्तर,
और सुहागिन बनो सनातन बाले! इस वसुधा पर।

शुभे! सरोवर के नीरव जल में मत कंकर फेंको,
मन की इस चंचल गति को हरिचरणों में कुछ टेको,
सोयी हुई तरंगें जब नीरवता से जगती हैं-
तो खुद को ही नहीं तटों को भी घायल करती हैं।

विषयों का ही ध्यान घोर आसक्ति प्रबल करता है,
और घोर आसक्त चित्त दुश्चिन्तन में जलता है।
शुभे! प्रबल आसक्ति कामनाओं का सर्जन करती,
बाधित हो कामना क्रोध का प्रखर उन्नयन करती।

जाग्रत होती मोह-निशा जो सुमति भ्रंश करती है,
सुमति भ्रंश कर प्रज्ञा की सक्रियता, श्री हरती है,
प्रज्ञा हो श्रीहीन पतन के द्वार खोल देती है,
जीवन के श्री सुधा-कलश में गरल घोल देती है।

अम्बे! यह आसक्ति आत्म उन्नति पथ की बाधक है,
इसीलिए इससे बचता रहता पवित्र साधक है।
बाप पाप का लोभ सघन अब तुझमें जाग उठा है,
तेरे उर में ध्वंसधर्मिणी वह भर आग उठा है।

लोभ बुद्धि को खा जाता है और क्रोध लज्जा को,
भग्न लाज जर्जर करती है मनुजधर्म सज्जा को।
धर्मभ्रष्ट हो जाने पर श्री शान्ति विसर्जित होती,
ज्यों फल पुष्प विहीन लता-सी कोई बन्ध्या रोती।

लुटा-लुटा-सा कुछ भी तो शुभ सोच नहीं पाता है,
घोर उपेक्षित निर्धन-सा आँसू ही टपकाता है।
शुभे! नहीं माँगे से मिलती असमय मृत्यु किसी को,
एक-एक क्षण भोग सुनिश्चित कहते यहाँ इसी को।"

"कुरुकुल श्रेष्ठ ज्येष्ठ वीरेश्वर! भाषण बहुत मधुर है,
किन्तु कामना दावानल भी क्या कम ध्वंसातुर है?
यौवन के घोड़े जब अपना वेग जान लेते हैं,
धरती क्या फिर आसमान की ठान, ठान लेते हैं।

श्री विवेक असवार नहीं उनका सम्हाल पाता है,
जगा हुआ उन्माद कहाँ क्षणभर में रुक जाता है।
परम ज्ञान वासना प्रभंजन में खाता गोता है,
संयम का संकल्प व्यथाकुल खड़ा-खड़ा रोता है।

जिसकी मधुर लहर सागर के ज्वारों पर भारी है,
जिसकी लघु चितवन पर सारी चिरता बलिहारी है।
आकर्षण की डोर हृदय को बाँध लिया करती है,
और प्राण से प्राण प्रणय का योग किया करती है।

दीपशिखा यौवन की धरती-व्योम जोड़ देती है,
शक्तिमती है धार कठिन पाषाण तोड़ देती है।
तिरस्कार यौवन का तन-मन गलित किया करता है,
ज्वालामुखी प्रखर कुण्ठा का ज्वलित किया करता है।

तुमने मेरा हरण किया है अपने बल-विक्रम से,
फिर क्यों मेरा तिरस्कार कर रहे विवश संयम से?
भ्रमवश त्याग रत्न का पीछे पछतावा देता है,
देकर घोर विषाद मनस की शान्ति छीन लेता है।

मैं तो हूँ अबला उपेक्षिता पग-पग अपमानित हूँ,
पड़ी आँसुओं की धारा में दिशाहीन धावित हूँ।
प्रथम किया अपमान हरणकर मुझे यहाँ पर लाये,
और द्वितीय अनादर, मेरा वरण नहीं कर पाये।

हाय! हाय! नरश्रेष्ठ! कौन-सा मैंने पाप किया है?
मेरी जीवनधारा में क्यों गरल उड़ेल दिया है?
एकमात्र तुम ही कारण हो मेरी पीड़ाओं के,
भंग कर दिये वेग मधुर रस की सब धाराओं के।

आँसू का उपहार कभी मैं भुला नहीं पाऊँगी,
शाप-घटा-सी सदा तुम्हारे जीवन पर छाऊँगी।
यौवन में मृदु-हास कुसुम अब कभी न खिल पायेंगे,
धिक्कारेंगे तुम्हें सदा आँसू ही बरसायेंगे।

क्योंकर फेंका पंक हमारे धवल अंक उज्ज्वल में,
जीवन की सानन्द-तरी को क्यों डाला दलदल में?
उठती हुई उमंग-तरंगों का वध करने वाले,
जीवन की चन्द्रिका हरण कर तम संचरने वाले।

हाय! तुम्हारे प्रखर शक्तिमद ने हर लिया उजाला,
मधुर भावनाओं का अम्बर खण्ड-खण्ड कर डाला।
होकर विज्ञ उचित-अनुचित कुछ भी तो नहीं विचारा,
अपनी हठ के लिए रूद्ध की मेरी जीवनधारा।

जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्त कभी भी भूल नहीं पाओगे,
दुखपाओगे भीतर-ही-भीतर बस पछताओगे।
अंगारों में झोंक मुझे क्या मिला तुम्हें कुरुकुलधर!
बोलो-बोलो मौन क्यों हुए धरती के अजेय नर!

सुनो वीर! यदि जीवन में अम्बा अपमान सहेगी,
तो तेरे जीवन में भी सुख सरिता नहीं बहेगी।
पड़े-पड़े पश्चातापों की शय्या पर रोओगे,
मर्यादाओं के खण्डन का समुचित फल भोगोगे।''

''अयि निस्त्रपयौवने! व्यर्थ मुझ पर मत दोष लगाओ,
कुछ अपनी त्रुटियों पर भी अपना विवेक ले जाओ।
मैं तो यही चाहता था तुम रहो हस्तिनापुर में,
'अम्बालिका' 'अम्बिका'-सी रानी बन अन्तःपुर में।

पर तुमने तो साल्वराज से ही अनुराग किया था,
मन ही मन कर वरण प्राणपति उसको मान लिया था,
मुझे रंच भी अगर ज्ञान इस घटनाक्रम का होता
तो मैं तुझको कभी न लाता, व्यर्थ दोष क्यों ढोता?

कुरुवंशी हैं वीर सदा नैवेद्य ग्रहण करते हैं,
नहीं कभी निर्माल्य दृष्टि के आगे भी धरते हैं,
अब तू है निर्माल्य साल्व का कुरुवंशी न वरेंगे,
कुल की मर्यादाओं के प्रतिकूल न कार्य करेंगे।

अगर हरण के समय गिरा यह तेरी मुखरित होती,
तो न शरण के लिए याचना करती क्षण-क्षण रोती।
अबले! तेरा भाग्य क्रूर है और बड़ा निर्दय है,
पूर्व आचरित दुराचरण कुछ तो निश्चित संचय है।

यदि न साल्व के पास याचना करने को तू जाती,
तो जीवन में रंचमात्र भी दुःख नहीं फिर पाती,
नारी! पवित्रता की मर्यादा से तू बन्धित है,
मर्यादाओं से सज्जित ही वन्दित अभिनन्दित है।

राजमहिषियाँ राजमहल की चौखट तक सीमित है,
अतिक्रमण सीमाओं का सब भाँति घोर निन्दित है।
अम्बे! मैं हूँ विवश किस तरह मर्यादा को तोड़ूँ?
एक दिशा के साथ किस तरह दिशा दूसरी जोड़ूँ?

किसी तरह सम्भव न प्रतिज्ञा, मर्यादा का खण्डन,
हम कुरुवंशी धर्म-पंथ का क्यों कर दें उल्लंघन?
मुख से वचन, चाप से सायक छुटकर लौट न पाते,
लंकेशों के आगे रखकर अंगद पग न हटाते।

कहो भला बचपन-यौवन जाकर फिर कब आते हैं?
कालचक्र के बीते दिन भी कभी लौट पाते हैं?
किसी तरह कुरुवंश धर्म को नहीं बदल सकता है
प्रबल हमारा प्रण अखण्ड तिलमात्र न टल सकता है।

अब जा लौट पिता के घर को यही उचित लगता है
कह दे जाकर सत्यकथा सब भाग्य यही कहता है।
पीहर और भवन पति का दो उचित वास तेरे हैं,
अन्य कहीं भी शरण नहीं, बस संकट के घेरे हैं।

वही कुलवधू वसुधातल पर अभिनन्दन है पाती,
पितगृह से डोली अरथी पतिगृह से जिसकी जाती,
दया नहीं आदर पाने की अधिकारी नारी है,
मर्यादा शुचिता से सज्जित मधुगन्धित क्यारी है।''

''पहले ही अपमान हो चुका पितु का दुखद हरण से,
और हुआ है अधिक रही जब वंचित पाणिग्रहण से,
करूँ और अपमान लौटकर अपना मुँह दिखलाऊ,
जले हुए उनके घावों पर फिर से नमक लगाऊँ?

अरे भीष्म! जिस मर्यादा का तुम बखान करते हो
लाँघ गये हो उसे स्वयं अब व्यर्थ दम्भ भरते हो।
भरी सभा से खींच मुझे जब रथ में बैठाया था
कहाँ तुम्हारा न्याय धर्म था, क्यों न रोक पाया था?

रीति स्वयंवर की पावन जिसमें नारी वरती है,
अपने प्रियतम का चुनाव अन्तर्मन से करती है,
किन्तु लुटेरों के समान जो कन्या हर लेते हैं,
अपराधी बनकर समाज को दुख अपार देते हैं।

क्षत्रिय होकर क्षत्राणी को क्या शिक्षा देते हो,
क्यों न खींच तलवार शीश मेरा उतार लेते हो?
आलिंगन मैं करूँ मृत्यु का किन्तु न घर जाऊँगी,
देखूँगी अब खेल भाग्य का रंच न घबराऊँगी।''

रोम-रोम में जगा क्रोध प्रतिशोध धधक आया था,
भीष्म पितामह के प्रति क्रोध अखण्ड उभर छाया था।
तिरस्कृता अम्बा अबला चल पड़ी वहाँ से सत्वर,
पुनः आ गयी लौट हस्तिनापुर नगरी के बाहर।

सोच रही थी "द्वार सभी हैं बन्द किधर को जाऊँ,
अनपेक्षित अपमान घोर से मुक्ति किस तरह पाऊँ?
अपमानिता राजकन्या को आश्रय कहाँ धरा है?
जीवन में पग-पग पर संकट-कण्टक ही उभरा है।

जिस नारी के बिना सृष्टि में कोई तत्त्व नहीं है,
हाय! उसी का यहाँ रह गया रंच महत्त्व नहीं है।
ओह! विधाता! कैसा तुमने मेरा भाग्य रचा है?
अश्रुधार के सिवा जहाँ कुछ और न शेष बचा है।

सुधाधार का पान कराकर जिसको मैंने पाला,
क्यों है वह उन्मत्त दर्प से, अभिमानी मतवाला?
आज उसी ने उपकारों को मेरे भुला दिया है,
दान-मान के बदले में कितना अपमान किया है।

अगर ब्याहकर मैं भी आती सहज कुलवधू होती,
बनती पूज्य राज्यमाता मैं यों न विवश हो रोती।
अपने ही न सकल जन संकुल नमन निवेदित करता,
पावन श्रद्धा के प्रसून मेरे चरणों पर धरता।

किन्तु भाग्य का प्रबल चक्र कब रहा एक जैसा है?
कोई भी न समझ पाया यह कब किसका कैसा है?
यौवन के उस मनोवेग पर यदि लगाम कस पाती,
तो जीवन में मधुर सुधा की सरस धार लहराती।

अंग रत्न स्वर्णाभूषण से सहज सुसज्जित होते,
गौरव गरिमा के किरीट नित सिर पर हर्षित होते।
राजमहल की मधुर तरंगें हर उमंग में होती,
और अगरु की दिव्य गन्ध को मेरी साँसें ढोती।

अंग-अंग आनन्द-जलधि उत्तुंग तरंगित होता,
रोम-रोम रस-रास-हास से नित्य निमज्जित होता।
दिवस भव्य होते कितने जब मैं कुलवधू कहाती,
रजत चन्द्रिका मन-मन्दिर में क्षण-क्षण आती-जाती।

अन्तस के उदयाचल पर नित नव प्रभात मुस्काता,
नित्य सुनहरे-कमल विहँसते, मानस सुख छलकाता;
किन्तु प्रभाती से पहले ही घिरे सघन घन काले,
लूट ले गये क्षणभर में ही जीवन के उजियाले।

कहाँ रत्नमणियों से मण्डित मन्दिर मधुगन्धित थे,
चम्पा जुही गुलाब चमेली बेला उत्कर्षित थे,
स्वर्ण कलश कर धरे दासियाँ स्वागत को उत्सुक थीं,
चँवर डुलाती हुई युवतियाँ भूषित अमुक-अमुक थीं।

और कहाँ अब तृण-कुटीर भी स्वप्न महल लगता है,
दग्ध विचार और सिकता से तन-मन सब जलता है,
लिपटा हुआ काल-पट में सब वैभव चला गया है,
चंचल मन अज्ञात-ज्ञात के हाथों छला गया है।

मैं नारी हूँ विथकित मेरी जीवन लता त्रसित है,
परतन्त्रता शृंखला से आजन्म सुदृढ़ बंधित है।
जगे हुए उदगार हृदय के मुखर न कर पाती हूँ,
उभरी हुई भावना-सी उठती हूँ गिर जाती हूँ।

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड व्यापिनी एक परासत्ता है।
पत्ता-पत्ता, तृण-तृण में उसकी ही गुणवत्ता है।
मृण्मय, चिन्मय का संयोजन नित्य किया करती है।
धरती है आलोक कभी धरती पर तम धरती है।

पंचभूतमय प्रकृति नित्य परिवर्तन प्रिया बनी है,
करती नव शृंगार मनोहर रहती बनी-बनी है।
जो शृंगार प्रकृति के हमको जिजीविषा देते हैं,
वही विसर्जित होकर सुख की छटा छीन लेते हैं।

वह अव्यक्त अनादि अनन्त अभेद्य अखण्ड अतुल है,
एकल सदा एकरस होकर भी विराट संकुल है।
सृजन-विसर्जन ग्रहण-त्याग अपने में अपना करती,
बिखराती है कभी-कभी पूरा हर सपना करती।

क्षण-क्षण कर उत्सर्ग प्रकृति नव गुरुता को पाती है,
पीकर गरल अमाप सृष्टि हित अमरत बरसाती है।
मनुज सृष्टि कर उसने धरती का शृंगार किया है,
जैसे नीलगगन को दिनमणि का उपहार दिया है।

कर उत्सर्ग स्वत्व का तिल-तिल बीज वृक्ष बनता है,
प्रबल त्याग कर ही यह जीवन पाता महानता है।
यद्यपि नर की सत्ता ने तप त्याग सदैव किये हैं,
हर युग में हर कालखण्ड में नव आदर्श दिये हैं।

धर्म कर्म बलिदान और परसेवा अमित भरी है,
ऋषियों की, वीरों की गाथा शुचि प्रेरणा करी है।
उनके सृजन-ध्वंस दोनों ही मुखर सदैव रहेंगे,
साथ-साथ जीवन धारा के मिलकर सदा बहेंगे;

किन्तु महत्त्वाकांक्षा में नारी भी क्या कुछ कम है,
उसका भी जीवन सदैव तप त्याग पूर्ण अनुपम है।
पर रक्षक नर के अधीन वह रही दबी प्रतिभा-सी।
नहीं कभी खिल सकी ठीक जीवन की पूरनमासी।

अपनी प्रतिभा का न कभी उत्कर्ष पूर्ण कर पायी,
जब भी अवसर मिला उभर कर है नूतन छवि आयी।
यदि ममता समता के भूषण नारी को मिल पाते,
करती वह उत्कर्ष और विधि हरि हर सुर हरषाते।

जबसे जन्मी है, तब से ही व्यंग्य बाण सहती है,
दहती है भीतर ही भीतर किन्तु न कुछ कहती है।
कहती है कुछ तो उसकी आवाज दबा दी जाती
प्राणों में वेदना उभरती किन्तु कहाँ स्वर पाती।

वह माधुर्य-निर्झरी आँसू के सर में रहती है,
जीवन के उन्नयन हेतु सन्त्रास घोर सहती है।
सन्त्रासों की डोर कहाँ दुर्बल हो सकी धरा पर,
और सबल हो रही निरन्तर घर परिवार घटाकर।

असह हो गयी जब नारी शोषण की कठिन बयारी,
कभी पिया विष प्याला उर में कभी कटार उतारी।
कभी कूदकर महलों से है अपनी लाज बचायी,
कभी समाकर जलधारा में चिरशीतलता पायी।

नारी का उत्सर्ग धरा पर पग-पग सतत ध्वनित है,
बलिदानों की सबल शृंखला उन्नत और अमित है।
उद्भव पालन और प्रलय का एकाधार सबल है,
पुरुष मात्र सह संचालक-सा नाच रहा हरपल है।

छायी रहती नारी के सिर मनुज-दृष्टि की कृष्णा,
शोषण करती रही सभी का राजभोग की तृष्णा।
किसे नहीं अनचाहा जीवन जीना यहाँ पड़ा है,
किसके पथ पर नहीं संकटों का अवरोध खड़ा है?

और घोर अवरोध पार कर जो आगे बढ़ता है,
वही उच्चता के सोपानों पर हँसकर चढ़ता है।
तपे बिना कंचन कब कुन्दर कान्ति सहज है पाता,
बिना दुखों में दहे सुखों का स्वाद कहाँ है आता?

छाया हुआ धुआँ-सा क्योंकर यह मन के ऊपर है?
सद्चिन्तन का दीप ले गया कौन किधर हरकर है?
भौतिकता का सघन कुहासा जन-मन पर छाया है,
आज मत्स्यगन्धाओं का मन रहता घबराया है।

बिना धूप के ज्यों धरती के रंग मलिन लगते हैं,
त्यों ही नारी के बिन नर को दिन दुर्दिन लगते हैं।
डगर-डगर पर नग्न विषमता ताण्डव नर्तन करती,
सौमनस्य की मधुर धरा का पग-पग मर्दन करती।

लौकिक और पारलौकिक गति क्षण में देने वाली,
तृषा-तृप्ति की सहोदरा वैराग राग की लाली।
कभी अप्सरा बिन हिमाद्रि का संयम ठग लेती है,
कभी प्रखर प्रबोधिनी बनकर ऋषिता भर देती है।

आकर्षण-प्रतिकर्षण और विकर्षण के दर्पण-सी,
कभी त्याज्य मरूथल सी वनती कभी रसाकर्षण-सी।
नारी तो त्रैलोक शोक तम हारक ज्योति प्रबल है।
लोक विदित इतिहास, ज्ञान की धारा परमोज्ज्वल है।

भवसागर का सेतु समुन्नत उन्नत पथ निर्भ्रम है,
वह अनादि अनवद्य सृष्टि की दीपशिखा अनुपम है।
जीवन की यह तरी काल की धारा में धावित है,
प्रखर थपेड़ों को सहकर भी प्रगतिमती-सी नित है।

सुमन सुगन्धित कभी-कभी काँटों के हार मिले हैं,
कभी-कभी माधुर्य कभी कटुता के खार मिले हैं।
नारी का उत्कर्ष पूर्ण मातृत्व सतीत्व युगल है,
माँ से बढ़कर पद समष्टि में और कौन उज्ज्वल है?

माता होकर नारी कितनी गुरु गरिमा पाती है,
धरती से सुरपुर तक पूजित वन्दित हो जाती है।
सहिष्णुता, तप, त्याग, राग की प्रतिमा तेरी जय हो,
कीर्ति-कौमुदी धराधाम पर अनुपमेय अक्षय हो।

जीवन-नभ पर उगे सद्‌गुणों के तारक धुँधलाए
देख सुधाकर श्री विवेक के नेत्र स्वयं भर आये।
धन्य विधाता! धन्य तुम्हारी धन्य धन्य माया है,
कभी दहकती धूप शीश पर कभी मधुर छाया है।

सुधासिक्त होकर यह जीवन क्षणभर मुस्काता है,
और कभी मरुमरीचिका में घुट-घुट रह जाता है।
क्या विचित्र संयोग पंक पंकज का यह नाता है,
एक ऊर्ध्वता शिखर दूसरा अधःपतन दाता है।

हाय! भीष्म तुम मेरे स्वर्णिम सपनों के हिंसक हो,
मधुर कामना-रत्न पुरों के निर्मम विध्वंसक हो,
हिंसक है जो पुरुष लोक में सुख न कभी पाता है,
जीवनं में वह घोर ग्लानि से भर कर पछताता है।

होता है विपरीत भाग्य तिल का पहाड़ बन जाता,
और अगर अनुकूल बने तो माटी स्वर्ण बनाता।
जगा हुआ कुविचार दुःख बन्धन का दृढ़ कारण है,
एक मात्र सद्‌चिन्तन ही बस इसका निराकरण है।

उससे मैं क्या कहूँ जानता जो सब जग भर की है,
देख रहा है तिल-तिल करनी जो मेरे कर की है।
खुशी-खुशी पौधे बबूल के मैंने उगा लिये हैं,
पग-पग देश प्रखर काँटों के पथ पर सजा लिये हैं।

सिद्ध हुआ यह आज धरा पर कोई नहीं किसी का
प्रीति, मीत हैं स्वार्थपूर्ति तक मैं हूँ साक्ष्य इसी का
दैहिक सुन्दरता धरती पर पग-पग भरी पड़ी है,
किन्तु नहीं सर्वत्र सद्गुणों की मोतिया लड़ी है।

समझ सकी मैं बहुत देर में गुणी मनुज सुन्दर है,
सुन्दर हो, गुणहीन किन्तु हो तो दुःखों का घर है।
सद्गुण से सम्पन्न एक नर कोटिक से उत्तम है,
हो जाती सान्निध्य प्राप्त कर जीवन प्रगति परम है।

कर्म पंक में खींच रही नर को नर की जड़ता है,
चाहा अनचाहा फिर तो सहना बलात पड़ता है।
तन मन विगलित और प्राण जल जाने को आतुर हैं,
किन्तु छोड़ते नहीं अस्थि-पंजर कितने निष्ठुर हैं।

जीवन की यह तरी फँस गयी है अब तूफानों में,
कुटिल भाग्य ने आग लगा दी सोनल अरमानों में,
लक्ष्य न मैं पा सकी, जल रही तिल-तिल हूँ अकुलाती-
हाय! विधाता! तुझे रंच क्यों दया नहीं है आती?

जीवन के भावी पृष्ठों को कौन यहाँ पढ़ पाया?
रही समझती जिसको सहचर वह थी केवल माया,
तड़प रहे हैं प्राण क्रोध को पीकर रह जाते हैं,
किन्तु विवश असहाय शरण फिर भी न कहीं पाते हैं।

क्यों शोषण के लिए रचा नारी को हाय! विधाता?
यह अपाट वैषम्य तुम्हारा कुछ न समझ में आता।
कहाँ ठिकाना होगा अपना कुछ न दृष्टि आता है,
पीड़ाओं के इस अरण्य में मन अति अकुलाता है।

卐

ओह काल! कुछ क्षण को मेरा मन-दर्पण धुल जाये,
अम्बा के अतीत की पीड़ा का दर्शन हो जाये,
दिनकर चलता हुआ प्रतीची के द्वारे था आया,
किन्तु परित्यक्ता अम्बा का पंथ नहीं चुक पाया।

होकर विमुख लोक से वन की कठिन राह पकड़ी है,
एकाकी वह एक वृक्ष के नीचे मौन खड़ी है।
स्वर्णरश्मियाँ अम्बा के मुखमण्डल पर नर्तित थीं,
किन्तु अश्रु की धारा से श्लथ दुखित और चिन्तित थीं।

卐

5

ऋषि आश्रम में अम्बा

चलते-चलते अम्बा को ऋषि आश्रम पड़ा दिखायी,
मन मन्दिर में आशाओं की रजत किरण मुस्कायी।
पुष्प लताओं, कुञ्जों से आश्रम-श्री उत्कर्षित है।
शीतल वट, पीपल, रसाल से शान्ति सहज हर्षित है।

यत्र-तत्र तुलसी के चौरे पूजित अभिवन्दित हैं,
अगरुधूम से पूर्ण सुगन्धित तृण-कुटीर शोभित हैं,
यहाँ सूत्र संस्कृति के पावन प्रगति चरण पाते हैं,
यहाँ प्रदूषण सपने में भी नहीं कभी आते हैं।

दूर नदी का तट पुनीत पावनता का आगर है,
लहर-लहर पर वैदिक मन्त्रों का गुंजन अक्षर है।
फूलों के किरीट वृक्षों के सिर पर सजे हुए हैं,
नव कोमल कलिकाओं के दल यौवन छुए-छुए हैं।

फूलों से श्रृंगार लताओं के भी सँवर रहे हैं,
सुर बालाओं के दल मानो नभ से उतर रहे हैं।
मृगशावक, गोवत्स कुलाँचे चंचल मार रहे हैं।
कहीं-कहीं पर वटुक यती कर उन्हें दुलार रहे हैं।

दिव्य गन्ध-निर्झर-से शोभित यज्ञकुण्ड हैं पावन,
नन्दनवन की शीतलता से भरे हुए हैं चन्दन।
सहकारों से कोकिल की मृदुतान मुखर होती है,
मधुर-मधुर रसधार चेतना सतत यहाँ ढोती है।

जहाँ विवेकानन्द ज्ञान मन्थन से उमड़ा करता,
मानव में मनुजत्व तत्व देवत्व सहज है भरता,
सामगान से जहाँ सतत दूषण विनष्ट होते हैं,
स्वास्थ्य-रत्न उल्लसित हो रहे रोग दोष रोते हैं।

जहाँ दिव्य चेतना विहँसती रहती है कण-कण में।
जीवन-मूल्य समुन्नति पाते रहते हैं क्षण-क्षण में।
जहाँ प्रतिक्षण सत्वगुणी धारा बहती रहती है।
जिनसे हो जीवनोन्नयन वे सूत्र सदा कहती है।

धन्य सनातन संस्कृति जिसने यह परिवेश दिया है।
भारत का ही नहीं विश्वभर का उपकार किया है।
भारतीय संस्कृति समग्र मानवता का दर्पण है।
इसके चरणों पर श्रद्धा का भाव-सुमन अर्पण है।

यहाँ सभ्यताएँ आकर सद्भाव ग्रहण करती हैं।
यहाँ समन्वय की धरती पर समता अंकुरती है।
यहाँ चरित्र और संयम के उज्ज्वल रजत-शिखर हैं।
यहाँ सुदृढ़ नैतिकता के सम्बलित मनोहर स्वर हैं।

यहाँ विश्व-बन्धुत्व शान्ति अंचल में पुलक रहा है,
यहाँ ज्ञान का स्वर्ण-कलश उन्नत हो चमक रहा है।
यहाँ धर्म की ध्वजा समुन्नत हरपल मुस्काती है,
यहाँ सत्य की शक्ति निरन्तर अमरत बरसाती है।

आज उसी सुन्दरी सभ्यता के दृग अभिसिंचित हैं,
नैतिक पतन घोर अलगावों से हरपल चिन्तित हैं।
हाय! संक्रमण के इस युग में अन्धकार छाया है,
घेरे हुए मनुजता को कर रही तृसित माया है।

आज नीति, अध्यात्म, धर्म, दर्शन, कृशकाय हुए हैं,
भक्ति और श्रद्धा के पावन स्तर निरुपाय हुए हैं,
संस्कृति के सोपान रुग्ण जर्जर होते जाते हैं,
और न शस्यश्यामला भू पर औषध तक पाते हैं।

गुंजित था विचार मन्थन से अम्बा का उर-अन्तर,
तभी वृद्ध संन्यासी आते हुए मिल गये पथ पर।
"हे ऋषिदेव! प्रणाम तुम्हें यह उपेक्षिता करती है,
चरण-शरण के लिए निवेदन निवेदिता करती है।"

"मंगल हो कल्याणि! तुम्हारा सदा-सदा मंगल हो,
त्याग तपस्या से उन्नत जीवन अखण्ड उज्ज्वल हो,
शुभानने! तुमने कुलीनता का तो हर लक्षण है,
बोलो तो किस हेतु हो रहा एकाकी विचरण है?

ज्ञानी, सन्त, मुक्त विचरण से उत्तम यश पाते हैं,
किन्तु शास्त्र नारी विचरण को दुःखद बतलाते हैं।
उसे घोर अपमान और अपयश ही बस मिलता है
जीवन में फिर नहीं मान का श्री पाटल खिलता है।

देवि! कौन-सा कारण तुझको इधर खींच लाया है?
राजभवन को छोड़ सन्त आश्रम क्यों मन भाया है।
किस कुल की हो दीपशिखा, वह कौन देश पावन है?
किस नृप की हो सुता, किसलिए धूमिल चन्द्रानन हैं?

छवि नभ पर क्यों घिरे हुए युग दृग सावन घन से हैं
दीन-हीन-सी कान्ति कह रही दुखित आप मन से हैं।"
"काशिराज की पुत्री हूँ ऋषि! अम्बा कहलाती हूँ,
हतभागिनी परित्यक्ता द्युति हीन दिया-बाती हूँ।"

''शुभे! तुम्हें किसने त्यागा है और कहो किस कारण?
बतलाओ तो हो सकता है कुछ कर सकूँ निवारण।
परसेवा के लिए नदी तरु साधु हुआ करते हैं,
औरों की पीड़ा समेटकर अपना घर भरते हैं।

ऋषि सदैव पर पीड़ाओं के अम्बुधि पी जाते हैं,
शान्ति-सुख-सुधा बाँट लोक में खुद भी हरषाते हैं।
मैं ऋषि नहीं किन्तु ऋषि सेवा में तत्पर रहता हूँ
परमानन्द मगन मन से गुरुचरण नित्य गहता हूँ।

घोर मान अपमान धरा पर सब कुछ सह सकता हूँ,
किन्तु किसी की आँखों में आँसू न देख सकता हूँ।
परसेवा मानव जीवन का धर्म परम पावन है,
इससे बढ़कर कहाँ धरा पर जप-तप होम-हवन है?''

''टूटा हुआ डाल का पत्ता अब मेरा जीवन है,
अंगारों-सा धधक रहा निज मन का नन्दनवन है।
किसे दोष दूँ ऋषिवर! मेरा ही कुछ कर्म घटा है
जिसके कारण इस जीवन में संकट आन अटा है।

मैं हूँ अबला अश्रु और ममता मेरे भूषण हैं
दुष्ट दुराचारी होकर भी नर में कब दूषण हैं?
नर समर्थ सब भाँति शक्ति सत्ता का अधिनायक है,
उसकी महिमा का वसुधा पर कौन नहीं गायक है?

नारी तो बस अश्रुसिन्धु की मीन हुआ करती है,
आशाओं के तृण-कुटीर में जीती है मरती है।''
रो-रोकर अम्बा ने अपनी सारी कथा सुनायी,
सदय साधु के उर-अन्तर करुणा अपार उग आयी।

''शुभे! जिन्दगी सुख-दुख दोनों पखवारों का घर है,
इस परिवर्तनशील प्रकृति में कुछ न कही अक्षर है।
जीवन है वह पंथ कठिन वैषम्य जहाँ चिर सहचर
कहीं मिले विषकूप तो कहीं मधुर सुधा के निर्झर।

कहीं तप्त मरु कहीं वृष्टि के शीतल पर्व सजे हैं,
कभी-कभी चाहे-अनचाहे बाजे कभी बजे हैं।
जीवन में वसन्त-पतझर क्रम से आते-जाते हैं,
किन्तु समय से अधिक नहीं क्षण भर भी रुक पाते हैं।

नियति-चक्र है सबल सभी विष-अमरत है पी जाता,
उसकी सूक्ष्म अपार दृष्टि से कौन यहाँ बच पाता?''
व्यथा-कथा अम्बा की सुनकर व्यथित हुए ऋषि, मुनि, यति,
प्रस्तुत करने लगे सभी थे अपनी-अपनी सम्मति।

चिन्तन करने लगे किस तरह समाधान सम्भव हो,
अम्बा के जीवन का पादप हरा-भरा झंकृत हो।
गहन विचार-विमर्श चल रहा था आश्रम प्रांगण में,
उचित व्यवस्था की जाये अम्बा के संरक्षण में।

परम पूज्य राजर्षि होत्रवाहन जी वहाँ पधारे,
अभिनन्दन कर उठे सभी ऋषि, गूँज उठे जयकारे।
दरस-परस-मज्जन पूजन आसन आचमन समर्पित-
किया पूज्यवर को ऋषियों ने, सभी हो उठे हर्षित।

''वन्दनीय ऋषियो! बोलो छायी क्यों यहाँ निराशा,
किस संकट के कारण बदली-बदली है सब भाषा।
या कि किसी भावी अनिष्ट से दुखित और चिन्तित हो,
या कि शाप से किसी सिद्ध के तुम सब हुए व्यथित हो?''

''नहीं-नहीं श्रीमान! नहीं चिन्ता का यह कारण है,
आया है संकट विचित्र अति जिसका विस्तारण है,
लोकमुक्त होकर ऋषि करता नित लोकोद्धारण है,
प्रभो! आगमन नहीं आपका, यह तो निराकरण है।''

''ऐसा कौन पड़ा है संकट ऋषि विमुक्त चिन्तित हैं,
समाधान जो स्वयं धरा पर वही समस्यावृत हैं।
कहो ऋषिगणो! कौन समस्या के घन घिरे सघन हैं;
जिसके कारण तेजहीन हो रहे दिव्य आनन हैं।''

''सकल सृष्टि निर्झरी लोक में फिर से तृषित हुई है,
तिरस्कृता अम्बा बाला जीवन से व्यथित हुई है।
मनोनीत भावी भर्त्ता श्री शाल्व नहीं वर पाये,
उससे पहले बल विक्रम से भीष्म हरण कर लाये।

शाल्व और गंगासुत सबने इसका किया निरादर,
अपनाया न किसी ने इसको दिया दुखों का सागर।
बाला है इसलिए शेष जीवन की कठिनाई है,
पीड़ित होकर राजमहल से आश्रय में आयी है।

लोक-लाज के कारण कैसे कहीं और को जाती?
कहो किस तरह पिता भवन में ढौर ठिकाना पाती?
अम्बा का भावी जीवन ही यहाँ घोर चर्चित है,
समाधान के लिए प्रवर! सब ऋषिमण्डल चिन्तित है।''

''अबला! तू सबला होकर भी अबला रह जाती है,
इस विडम्बना को अबोध तू समझ नहीं पाती है।
ममता, क्षमा, दया, करुणा सब तुझमें सदा निवसते,
किन्तु क्रोध के बाज नित्य ही मर्यादा में रहते।

कन्या-रत्न-कुलीन सर्वविध मंगल पावित्री है,
काशिराज की पुत्री यह तो मेरी दौहित्री है।
निम्न आचरण देख मनुज के मैं भी दुख पाता हूँ,
नहीं समर्थ शुभे! मैं फिर भी साधन बतलाता हूँ।

परशुराम ऋषिश्रेष्ठ ज्येष्ठ शास्त्रज्ञ शस्त्र ज्ञाता हैं,
धराधाम पर विप्रवंश के महामहिम त्राता हैं।
जिनके प्रखर परशु से कम्पित हुई धरा थी सारी,
जिनके बल आतप से झुलसी क्षत्रिय कुल फुलवारी।

परशुधार से जिनकी सर्जित ब्रह्मपुत्र का पथ है,
उनके पग जिस ओर पड़े वह परमश्रेष्ठ सत्पथ है।
युद्धविशारद भीष्म शिष्य उन धर्मधीर ऋषि का है,
उनकी गुण गरिमा का वर्णन करे न वश कवि का है।

परशुराम ऋषि हैं अग्रज हैं मेरे शुभचिन्तक हैं,
नीति, धर्म, विज्ञान, ज्ञान, तप, संयम के साधक हैं।
आदेशित यदि करें भीष्म को तो वे झुक जायेंगे,
गुरुआज्ञा को किसी तरह वे टाल नहीं पायेंगे।

वे चाहे तो तेरे दुख की मावस छट जायेगी,
हँसती हुई चन्द्रिका फिर से जीवन में आयेगी,
ज्योति-पर्व सोल्लास रास से मुखर मुस्करायेंगे,
जीवन में वसन्त हँस-हँस कर मधुर गीत गायेंगे।

परशु कृपा से दिवस स्वर्ण सब तेरे हो जायेंगे,
फिर न कभी संकट-घन जीवन अम्बर पर छायेंगे।
नारी तो मर्यादाओं से सदा बँधी रहती है,
जीवन धारा सुख-दुख कूलों मध्य सतत बहती है।

मनोजगत नारी का जब भी अनियन्त्रित होता है,
जगता है दुर्भाव दिनोंदिन सम्वर्द्धित होता है।
शील और संकोच विवश हो नेत्र मूँद लेते हैं,
खुशियों के कचनार ध्वस्त कर, वर बबूल लेते हैं।

भद्रे! इस वसुधा पर आने का विशेष कारण है
संचित कर्मों का भू पर ही होता निस्तारण है।
माटी की काया माया बिन भोग कहाँ सम्भव है,
बिना भोग निःशेष, कहाँ सम्भव चैतन्य-विभव है?

पुष्प-पाप दोनों से होकर मुक्त परम गति मिलती,
नर-तन में आकर जीवात्मा दिव्य कमल-सी खिलती।
सुख-दुख दोनों नित्य फूल से खिलते झड़ जाते हैं,
भला एक से दिन जीवन में किसके रह पाते हैं?

वही परमसत्ता अनन्त है जो सबकुछ करती है,
माटी की काया निमित्त है जीती है मरती है।
सकल योनियों में तो केवल भोग रोग वैभव है,
और श्रेष्ठ नर तन में कुछ परिमार्जन भी सम्भव है।

यही कामना, दुख न छू सके स्वर्ण पर्व जीवन के,
जीभर कर भोगूँ अखण्ड वैभव सुख नन्दन वन के।
किन्तु लेख विधि के न रंच भी घटते घट-विघटन के,
यद्यपि नर उपाय करता रहता है सुख-साधन के।

भद्रे! अचिर मही है इस पर चिरता कहाँ धरी है?
तृष्णाओं की घोर सघनता दुख तम तोम भरी है।
करती नहीं विलम्ब एक क्षण भोग भाव धारा है,
जीवन का प्रकाश हर, देती सघन दैन्य कारा है।

अन्तस की चेतना अनसुनी होती है इस कारण,
भ्रमित किये रहता है मन को माटी का आकर्षण,
और नहीं वह कभी तृप्ति का अणु भी दे पाता है,
तृष्णाओं का ज्वार जगाकर जर्जर कर जाता है।

हो जाते हैं स्वप्न महल सब ध्वस्त क्षणिक निद्रा के,
फिर भी खुलते नहीं कभी पट मन की कटु तन्द्रा के।
इसीलिए सुख दुख के लघु सोपान मिला करते हैं,
भ्रामक अरुणिम जलज गन्ध के नित्य खिला करते हैं।''

ऋषिमण्डल के मध्य होत्रवाहन जी बोल रहे थे,
अम्बा के अन्तस में आशा का रस घोल रहे थे।
तभी बटुक साभार प्रणत हो ऋषिमण्डल में आया,
परशुराम के शुभागमन का शुभ सन्देश सुनाया।

बोला 'कल ही महामहिम ऋषि परशुराम आयेंगे,
पावन पद रज से आश्रम को धन्य बना जायेंगे।'
बटुक गिरा से ऋषिमण्डल में हर्ष अपार जगा था,
अम्बा के दुख निराकरण का साधन-घन उमगा था।

हर्षित हुए होत्रवाहन बोले 'अनुकूल समय है,
इससे सहज सिद्ध होता है ईश्वर बड़ा सदय है।
घर बैठे ही इष्ट हमारा प्रभु ने आज किया है;
अपनी परम कृपा का सुन्दर मूर्त प्रमाण दिया है।'

× × ×

होते ही प्रभात प्राची ने अरुण दृगंचल खोले,
अरुणचूड भैरवी राग में मधुर सुधारस घोले।
रश्मि तूलिकाओं ने अभिनव रंग भरे जगती में,
गूँज उठे जागरण मन्त्र शुभ वसुधा मौनव्रती में।

परशुराम दिनमान चेतना रहे प्रसारित कर हैं,
ओज-तेज-पौरुष-विवेक-बल, कण-कण रहे प्रसर हैं।
पग-पग पर अभिनन्दन करते लता, वृक्ष पाटल वर,
पवन प्रसून बिखेर बनाता पथ को सहज मनोहर।

कर में लप-लप परशु बिजलियाँ तोड़ रहा है हरपल,
जिसकी समता करे धरा के किस आयुध का है बल?
विश्वजयी वह परशु प्रखर अतुलित अजेय अविकारी,
त्राता विशद ब्रह्मकुल का मानो सहस्र फणधारी।

जिसकी प्रखर धार से धरती नभ काँपा करते थे,
जिसकी चमक देखकर ही क्षत्रिय समस्त डरते थे।
बल विक्रम अभिमान दर्प का पंक हटाने वाला,
धराधाम पर ब्रह्मज्ञान की ज्योति जगाने वाला।

जैसे जगत चमक उठता है दिनमणि के आने पर,
जैसे निशा पुलक उठती तारक विधु मुस्काने पर,
जैसे बाग प्रफुल्लित होता वासन्ती छवि पाकर,
जैसे गीत सँवर उठता है रागायित होने पर।

जैसे जग उठती उमंग यौवन के प्रथमागम से,
जैसे मन भूषित हो उठता सदाचरण अनुपम से,
विहँस उठा ऋषिमण्डल त्यों ही परशुराम आगम से,
स्वागत में उठ खड़े हुए ऋषि प्रवर समस्त स्वयं से।

गूँज उठा ऋषिधाम स्वस्तिवाचन का मंगल स्वर है,
पाद्य, अर्घ्य, आचमन निवेदित किया गया सत्वर है।
आसन देकर ऋषियों ने नैवेद्य सद्य अर्पित कर,
नमन निवेदन कुशल क्षेम सविनय था पूछा सादर।

ओज-तेज-पौरुष प्रताप का ज्वारिल सिन्धु सँवारे,
हर्षित होकर परशुराम ने सुन्दर वचन उचारे।
"आज विधाता ने हम सब पर कृपा कटाक्ष किया है,
एक साथ इतने ऋषियों का दर्शन लाभ दिया है।

सौजन्मों के पुण्य उदय जब होते हैं जीवन में,
सत्पुरुषों का संग और शुभ चिन्तन उगता मन में,
जन्म-जन्म अनुशीलन से जो गुण न प्राप्त होता है,
साधु संग से क्षण में मिलता, मनः कलुष धोता है।

साधु संग सेवा से बढ़कर कोई काम नहीं है,
और साधुता से बढ़कर कुछ भी अभिराम नहीं है।
साधु स्वभाव सरल निर्मल उज्ज्वल उदार होता है,
जहाँ भरा मानवता के हित अमित प्यार होता है।

साधु स्वभाव समष्टि पर्व का स्वर्ण-प्रदीप मधुर है,
जिसकी धवल ज्योति से ज्योतित धरा और सुरपुर है।
विचरण करता हुआ साधु सद्गुण संस्थापन करता,
दुर्गुण का कर अन्त मनुजता का अभिवर्धन करता।

धराधाम पर मानवता का मुकुट साधु निर्भ्रम है,
साधु संग बिन मनो-प्रगति आकाश-कुसुम के सम है।
परमेश्वर को सकल सृष्टि में साधु सर्वप्रिय नित हैं,
ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष पद रज को लालायित हैं।"

तभी एक ऋषि बोले "यदि ये साधु ईश के प्रिय हैं,
तो क्यों इनके आस-पास हो रहे कार्य अप्रिय हैं?
सबका हित करने वाले क्यों साधु कष्ट पाते हैं,
घोर अभावों और त्रास से क्यों त्राषे जाते हैं?

अजित असुरता सज्जनता का भक्षण कर जाती है,
आखिर क्यों यह दमन साधुता समय-समय पाती है?''
''दमन और सन्त्रासों का यह अर्थ नहीं अनुपम है,
चिन्तन और मनन का तुममें अभी शेष कुछ श्रम है।

अरे ऋषिप्रवर! कारण के बिन कार्य न किञ्चित होता,
जो होता है वह तो तिल-तिल पूर्व सुनिश्चित होता।
देखो जब आसुरी वृत्ति बढ़ती है इस वसुधा पर,
आतंकित होता समाज अत्याचारों में फँसकर।

होता घोर अधर्म और अन्याय अतुल वसुधा पर,
आँसू-आँसू होती धरती आँसू-आँसू अम्बर,
तब लेते अवतार धरा पर शक्ति सहित परमेश्वर,
और अधर्म समूल नष्ट कर धर्म रोपते सत्वर,

ऋषे! नाश काया का कुछ भी नाश नहीं होता है,
जो न जानता यह वह कायासक्त दास रोता है।
यह तो सचमुच ही विकार है कहाँ प्रकृति पावन है,
इसमें बस अमूल्य अनुपम परमेश अंश श्रीधन है।

उसी अंश के दर्शन का अभियान साधना पथ है,
उसकी महिमा का न कहीं मिलता कुछ भी इति अथ है।
उस चैतन्य तत्व का दर्शन है अभीष्ट जीवन का,
जब तक मिलता नहीं त्याग होता न सहज नर तन का।

किन्तु सघन मायावरणों ने आत्मच्छन्न किया है,
उसने ही चाहा जिसको दर्शन बस उसे दिया है।
छिपा रखा मौलिक स्वरूप अन्तरतम के गह्वर में,
और खोजते फिरते हैं हम उसको इधर-उधर में।

लिये नाभि में कस्तूरी मन-मृग यह भटक रहा है,
जबकि अदर्शन पल प्रतिपल मन को ही खटक रहा है।
ऋषे! आत्मपथ अनुसंधित्सा ही है भक्ति मही पर,
इसके सिवा अभीष्ट न कुछ भी मुझको मिला कहीं पर।

ऋषियो! यह बालिका अनमनी-सी क्यों मौनवती है?
किस कुल की यह दीपशिखा एकाकी प्रभावती है?
वन विहार के लिए राजकन्या आश्रम आयी है,
या कि पिपासा शास्त्र ज्ञान की इसे खींच लायी है?''

''काशिराज की सुता सकल सद्गुण की अवलम्बा है,
अम्बालिका अम्बिका की अग्रजा नाम अम्बा है।''
महामते! क्योंकर बाला पर उदासता छायी है?
कौन भला ऐसा संकट आया जो दुखदायी है?

दिखती नहीं चपलता वय की बस चिन्तन छाया है,
यौवन की चौखट पर क्यों प्रौढत्व प्रखर आया है?
बाले! कहो कौन-सी विपदा तुम पर आन पड़ी है?
किस कारण उद्दीप्त छवि-छटा धूल समान पड़ी है?

ऋषिवर! मैंने शाल्वराज का मन से वरण किया था,
किन्तु स्वयंवर से ही गंगासुत ने हरण किया था।
जब मैंने हस्तिनापुरी में मनोव्यथा बतलायी,
तो फिर मैं श्री शाल्वराज के द्वार गयी भिजवायी।

किन्तु तिरस्कारों से ज्यादा कुछ न मुझे मिल पाया,
छिपा हुआ प्रारब्ध उभरकर जीवन में है आया,
अपमानों के झंझावातों ने धूमिल कर डाला,
मधुशाला हो गयी जिन्दगी की मेरी मधु-शाला।

ममता-समता कहाँ धरा पर नारी कुछ पाती है,
शोषण की उत्तप्त धार में बहती उतराती है।
वैभव बल पर पिता तुल्य वृद्धों से ब्याही जाती
स्वप्नवीथिका में काँटों की फसल उगायी जाती।

बज्र बाहुबन्धन में नारी धर्म विवश घुटता है,
लोक लाज को आग लगाकर यौवन धन लुटता है।
लोक, धर्म, मर्यादाएँ सब मेरे लिए बनी हैं
और मनुज-मन-मधुकर की कामना मुक्त अवनी है।

मनोवांछित करे पुरुष सब उचित न कुछ अनुचित है,
और स्वप्न भी देखे नारी तो वह त्याज्य त्वरित है।
ऋषे! आज उर-अन्तर मेरा दग्ध हुआ जाता है,
आखिर कब तक सहूँ पाप यह अब न सहा जाता है।''

अश्रुस्नात निज व्यथा-कथा सब अम्बा ने बतलायी,
द्रवित हो उठा था ऋषिमण्डल आँख-आँख भर आयी।
परशुराम बोले ''पुत्री! तुम धैर्य धरो निज मन में,
भीष्म शिष्य है मेरा उसको आज्ञा दूँगा क्षण में,

वरण करेगा तुम्हें, क्षमा माँगेगा शरणागत हो,
करो विसर्जित सभी निराशा आशा अभ्यागत हो।
शेष नहीं अब कोई कारण रहा तुम्हारे दुख का,
उत्साहित होकर के अब तुम करो वरण वर सुख का।

तुम चाहो तो शाल्वराज को ही बन्दी करवा लूँ,
धर्मपूर्वक ब्याह तुम्हारा आश्रम में करवा दूँ।''
''नहीं-नहीं ऋषिराज! शाल्व को अब मैं नहीं वरूँगी।
छोड़ चुकी हूँ जिस चौखट को उस पर पग न धरूँगी।

शाल्व युद्ध जर्जर है ऋषिवर! उसका शेष मरण है,
वह तो जीवित भी अब मृत है उसका व्यर्थ वरण है।
कृपा आपकी हुई, भीष्म का वरण सहर्ष करूँगी,
और नहीं तो प्रखर तपोबल का उत्कर्ष करूँगी।

देखेगा यह नर समाज नारी के तेज अतुल को,
सहन नहीं कर पायेगा प्रतिशोध अग्नि संकुल को,
मेरे प्रबल क्रोध की ज्वाला भीषण धधक उठेगी,
तो उनकी खोखली वीरता तृणवत दहक उठेगी।

कंगन फेंक हाथ मेरे जब अस्त्र-शस्त्र धारेंगे,
बढ़कर नर के थोथे बल विक्रम को ललकारेंगे।''
''शान्त-शान्त हे देवि! हृदय में शान्ति कान्ति को धारो,
धैर्य धरो यों मत क्रोधानल मन का और उभारो।

अच्छा हुआ, हो रहा अच्छा, होगा भी अच्छा ही,
निर्णय है यह महाकाल का जो है सतत प्रवाही,
हम सब तो निमित्त हैं केवल कर्त्ता एक वही है,
वह परोक्ष रहकर भी हरपल सक्रिय सही-सही है।

नहीं क्रोध में इष्ट सिद्धि हो पाती है सुखकारी,
और भड़कती अग्नि-द्वेष की कर देती दुखभारी,
शुभे! शान्ति सद्भाव प्रेम का मन्त्र विजयदाता है।
क्रोध, युद्ध अन्तिम विकल्प, भारी विनाश लाता है।

या तो भीष्म वरण कर तेरा तुझको ले जायेगा,
या फिर समर घोर में मुझसे मृत्युदण्ड पायेगा।''
बटुक दूत को भेज भीष्म को बुलवाया सत्वर था,
कुशलक्षेम के बाद मुखर श्री परशुराम का स्वर था।

"हे गांगेय! धर्म के पण्डित नीति न्याय ज्ञाता हो,
कुरुकुल के संरक्षक, धरती के महान त्राता हो।
प्रसरा हुआ दिगन्तों तक अक्षर व्यक्तित्व धवल है,
परम यशस्वी धैर्य सिन्धु अनुपम अखण्ड उज्ज्वल है।

क्षत्रिय जिस नारी का कर अपने कर में लेते हैं,
नहीं उसे फिर तृण समान वे तुरत त्याग देते हैं।
कौरव कुल की गरिमा तो अक्षुण्ण अटूट रही है,
कहो तुम्हीं से यह मर्यादा फिर क्यों टूट रही है?

आर्यपुत्र! आचरण चरण की मर्यादा को पालो,
हरण किया है जिस बाला का उसको अब अपना लो।
वरण नहीं करना था तो फिर क्योंकर हरण किया है?
अम्बा के जीवन में क्यों दुख का संचरण किया है?

वह तो है नारी लज्जा मर्यादा से बन्धित है,
सभी तरह संकोच शील से हर क्षण प्रतिबन्धित है।
सोचो तिरस्कृता होकर वह कितनी दुखी हुई है,
सम्मानिता राजकन्या आश्रम में छुपी हुई है।"

श्रद्धानत हो भीष्म कह उठे "हे गुरुदेव नमन है,
कथन आपका सत्य सहज धर्मानुकूल पावन है
किन्तु विवश मैं ब्रह्मचर्य का व्रत अखण्डधारी हूँ,
शपथपूर्वक कहता हूँ मैं अब तक अविकारी हूँ।

और हरण अम्बा का मैंने निज हित नहीं किया था,
जो आज्ञा दी थी माता ने मैंने वही किया था।
घोर समर कर तीनों कन्याओं को मैं लाया था,
किन्तु न इस अम्बा को होना अनुजवधू भाया था।

अम्बा ने तो शाल्वराज को ही मन से माना है,
कहाँ धर्म नारी का इसने पहले पहचाना है?
फिर भी कोई बल प्रयोग मैंने न किया था इस पर,
सत्वर भेजा शाल्वराज के पास इसे था सादर।

और शाल्व ने किया तिरस्कृत इसे नहीं स्वीकारा
तो गुरुदेव बताओ इसमें क्या है दोष हमारा?
अब इसका प्रारब्ध फलित है, जो सब भाँति अटल है।
उसका मंगल कहीं नहीं है जिसका मन चंचल है।''

कुरुकुल शिखर! तुम्हारा भी यद्यपि यह उचित कथन है,
प्रश्नांकित हो रहा किन्तु इस बाला का जीवन है,
धरती पर परमार्थ सिद्धि ही सबसे बड़ा धरम है,
जो सब भाँति पुण्ययशदायक श्री बैकुण्ठ परम है।

अगर किसी का हित साधन हो अपने इस जीवन से,
कोई कारण नहीं, जग सके मोह मृत्तिका तन से।
शिव ने किया लोकहित साधन, हँसकर गरल पिया था।
निज जीवन का मोह तात! तिलभर भी नहीं किया था।

अरे! क्रूर कट्टरपन ने क्या नहीं अनर्थ किया है?
जीवन की मधुरिम धारा को अक्षय खार दिया है।
यदि नर के भीतर भी नव औदार्य ज्योति जग पाती,
तो नारी के जीवन में दुख महानिशा क्यों आती?

सोचो नारी हित में तुमने कितने कार्य किये हैं,
दुःख, दैन्य, सन्ताप, अश्रु, अभिशाप अमाप दिये हैं,
वत्स! आज माधुर्य शिखरिणी नारी दृग्धमना है,
वीर प्रसविनी-महामही पर करुण वितान तना है।

अम्बा ही न उपेक्षित कितनी युग की बालाएँ हैं,
संरक्षण, दुलार से वंचित शोषित कन्याएँ हैं।
मधुप-मनुज यदि इन्हें समादर दे थोड़ा अपना ले,
तो वैषम्य-मेघ छट जायें नभ-समाज से काले।

सहधर्मिणी सृष्टि सर्जन की बस कर्तव्यवती है,
वंचित है अधिकार बोध से रहती ठगी-ठगी है।
कर्म और अधिकार उसे यदि ठीक-ठीक मिल पाते,
तो अखण्ड भूमण्डल पर अति प्रगति कमल मुस्काते।

माता होकर भी दासी का जीवन भोग रही है,
कदम-कदम पर सदा-सदा से दारुण व्यथा सही है,
सुलग-सुलगकर भस्म हो रही मन की मन में मंजिल,
क्यों न सजाता नर जीवन के मधुर पर्व को हिलमिल?

भीष्म! तुम्हें आज्ञा है मेरी "अम्बा को अपना लो,
बाँह गहे की लाज रखो जीवन को धन्य बना लो।
रूढ़ि अन्धविश्वास और कट्टरपन सघन हटाकर,
तोड़ो वह अब परम्परा, जो भरती है दुखगागर।"

"नहीं-नहीं गुरुदेव! विवश हूँ इस आज्ञापालन से,
मुझे मोह अपने प्रण से है नहीं रञ्च जीवन से।
इसके बदले जो चाहें, वह सब कुछ कर सकता हूँ,
किन्तु प्राण रहते शरीर में इसे न वर सकता हूँ।

कहें, धरा आकाश यक्ष किन्नर नर बन्दी कर लूँ,
या कि शीश निज काट आपके चरणों पर ही धर दूँ,
सब मर्यादा तृण समान मैं अभी त्याग सकता हूँ,
ब्रह्मचर्य के व्रत अखण्ड से पर न भाग सकता हूँ।"

''भीष्म! स्वार्थ की धारा में क्यों लगा रहे गोते हो?
क्यों प्रण का आवरण ओढ़ कर्तव्य विमुख होते हो?
जो अपना कर्तव्य त्याग कर मनमानी करता है,
घोर संकटों से वह अपने जीवन को भरता है।''

''संकट हो या समाधान सब आते हैं जाते हैं,
शिष्य आपके नहीं कभी इन सबसे घबराते हैं।''
''तो फिर तुम क्यों नहीं वरण अम्बा का कर लेते हो?
पुण्य-यज्ञ में, व्यर्थ दोष निज प्रण को क्यों देते हो?''

'गुरुवर! मैं कह चुका विवश हूँ, इस आज्ञा पालन में,
और न कोई वचन आपका टालूँगा जीवन में।
एक वचन यह छोड़ और जो कहें निभाऊँ सत्वर,
अस्त्र-शास्त्र, धन धाम प्राण अर्पण है सब चरणों पर।''

''भीष्म! चेतना में लौटो यह कैसा पागलपन है?
वीरोचित यह नहीं भाव है यह तो कायरपन है।
या अम्बा से ब्याह करो सद्धर्म जगत हितकारी,
या फिर करो शिष्य गुरु के रण उत्सव की तैयारी।''

''प्रस्तुत हूँ गुरुदेव! युद्ध से मुझे न किंचित भय है,
किन्तु युद्ध भीषण होगा सम्भावित एक प्रलय है।
मैं क्षत्रिय हूँ क्षत्रिय का तो धर्म युद्ध करना है,
होना विमुख युद्ध से दुख है, सुख लड़कर मरना है।''

卐

मन-दर्पण में प्रतिबिम्ब
उभरते आते हैं सब रह-रहकर,
फिर तैर उठे वे दुखद पर्व
दृग की धाराओं के ऊपर।
अनगिन आघातों से सज्जित
जीवन का ग्रन्थ हमारा है,
अक्षर-अक्षर से झाँक रहा
त्रासद अतीत, जो खारा है।
निर्गन्ध पुष्प-जीवन घायल
मन भृंग अश्रु बरसाता है,
निज व्यथा श्लोक आलोक हीन
अन्तस में पढ़ता जाता है।
जिन हाथों से मैंने गुरुवर के
पावन चरण पखारे थे,
उन हाथों से ही हाय! उन्हीं पर
छोड़े तीर करारे थे।

卐

6

परशुराम भीष्म का युद्ध

अम्बा के कारण कुरुक्षेत्र
गुरु-शिष्य युद्ध का साक्ष्य बना,
सिन्दूरी हो पाया न किन्तु
था उसी कुँवारी का सपना।

संग्राम शिष्य-गुरु का तेईस दिन
चला, न निर्णय हो पाया,
बलिदान हो गये कोटि वीर
पर कुछ भी हाथ नहीं आया।

संकट कट सका नहीं तिलभर
संकट पर संकट जाग उठे,
हो गये हाल-बेहाल वीर
प्राणों की भिक्षा माँग उठे।

कुछ प्रश्न रह गये अनुत्तरित
कुछ बहे रक्त की धारा में,
कुछ तलवारों की भेंट चढ़े
कुछ भटके निर्मम कारा में।

जीवन तो खुद है महाप्रश्न
जो अनुत्तरित ही रहा सदा,
पलभर भी ठहर नहीं पाया
विकराल काल में बहा सदा।

बह रहा झूलता सुख दुखमय
अविकार काल की बाहों में।
संघर्ष घात-प्रतिघात सहे
पग-पग पर अपनी राहों में।

यह युद्ध शक्ति के दर्शन का
अवसर अवश्य ले आता है,
पर जाता है तो प्रलयकाल की
परिभाषा दे जाता है।

यह युद्ध रंग सब जीवन का
कर भंग उमंग मिटाता है,
आँसू के खारे सागर में
खुशियों के कमल डुबाता है।

यह युद्ध सुदृढ़ निज दाढ़ों से
जीवन के रत्न चबाता है।
यह युद्ध तप्त निःश्वासों से
जीवन का दीया बुझाता है।

रण उत्सव का परिणाम देख
अनिमेष रह गये धरा-गगन।
तन काँप उठा थर थर थर थर
मन में हो उठा घोर कम्पन।

धरती के रक्तिम श्लोक बाँच
नयनों के साग़र डोल उठे,
जीवन में संकट के बादल
पीड़ा की धारा घोल उठे।

उठ रहे मृत्यु के झोंकों में
सिन्दूर लुट रहा माँगों का,
लुट रहे रत्न थे ममता के
लोहू बह रहा अभागों का।

दुर्देत्य युद्ध की विभीषिका
विकराल काल-सी झूम उठी,
लथपथ लोहू से अंग-अंग
वह मानवता के चूम उठी।

फिर-फिर शोणित में डूब-डूब
हो गयी विकट विकराल धरा,
अनुचरी युद्ध की महामृत्यु
कर गयी लूट कंगाल धरा।

उपहार अश्रु के आँखों को
शवदाहों के दुख दृश्य मिले,
पथरायीं आँखें रो-रोकर
हाहाकारों से किले हिले।

अवलम्ब मनुजता का जीवन
जीवन में आग लगाता है।
यह युद्ध प्रगति सोपान सभी
क्षणभर में चट कर जाता है।

तलवारों से कुछ कम जूझा
फिर लड़ा बहुत पीड़ाओं से।
आधियों-व्याधियों से जकड़ा
जकड़ा खारिल धाराओं से।

यौवन की मधुर बहारों को
झकझोर दिया पतझारों ने,
अधराधर कलियों के कोमल,
कर दिये राख अंगारों ने।

जल उठी होलिका ममता की
शोकाकुल थे सब दिग्दिगन्त।
आमने-सामने देख हुई व्याकुल
जीवन का आदि-अन्त।

निज आन-मान-अभिमान हेतु
कितने निर्दोष चबा डाले।
कितनों को वंश विहीन किया
कितनों के वंश मिटा डाले।

आँसू से भीगी धरा कहीं
तो कहीं रक्त से स्नात हुई
क्षणभर को कहीं प्रकाश हुआ
तो कहीं युगों की रात हुई।

बच्चे अनाथ भूखे नंगे
किस तरह जियेंगे रो-रोकर
फट रहा कलेजा धरती का
विधवाओं की चीखें सुनकर।

यह युद्ध प्रेम की परिभाषा
यदि कहीं ठीक से पढ़ पाता,
तारकों सहित अम्बर सहर्ष
तो भू पर स्वयं उतर आता।

क्या दिया युद्ध ने, रोग, दैन्य
कुण्ठाओं के उपहार हार।
रक्तिम धारों के बीच
बिलखते प्राणों की आकुल पुकार।

क्या दिया युद्ध ने सृजन पंथ
कर ध्वस्त नाश के लिखे श्लोक,
बेवश निरुपाय क्रन्दनों में
खो गया शान्ति का मधुर लोक।

क्या दिन युद्ध ने नयनों को
खारे-से निर्झर बस निर्झर।
जीवन से जीवन रूठ गया
ढह गया हाय! आलोक-शिखर।

क्या दिया युद्ध ने जीवन की
धारा को कर अवरुद्ध दिया,
आलोकित उन्नति के पथ का
मंगल मनोज्ञ बुझ गया दिया।

क्या दिया युद्ध ने धरती को
वीरान बनाया बार-बार,
मरघट की लपटों में देखा
जल रहा धरित्री का सिंगार।

क्या दिया युद्ध ने जीवन को
सूनापन घुटन जलन चिन्तन
आमरण मृत्यु की ज्वाला में
जल जाने को तिल-तिल तन-मन।

क्या दिया युद्ध ने गिद्ध, काक,
चीलों, श्वानों को भोग-भाग।
उजड़े-उजड़े घर गाँव मौन
अभिलाषाओं पर गिरी आग।

मन की धरती से धरती तक
रण उत्सव नित्य प्रचण्ड रहा,
यह जीवन ही है युद्ध,
जिसे लड़ता मनुजात अखण्ड रहा।

यह युद्ध विचारों तक सीमित
यदि रहता तो खुश रहते हम,
तलवारों तोपों गोलों का
विध्वंस भला क्यों सहते हम?

हम नर हैं नर से लड़कर तो
प्रतिशोध चुकाया करते हैं,
पर भीतर बैठे हुए शत्रु से
अति घबराया करते हैं।

लड़ना ही है यदि नर तुझको
तो काम क्रोध से लड़कर मर,
लड़ना ही है यदि नर तुझको
तो अहंकार को जर्जर कर।

लड़ना ही है यदि नर तुझको
तो निज मन से संग्राम करो,
फहरा दो विजय केतु पावन
जीवन अपना अभिराम करो।

तलवारों तोपों से जीती जगती
सब जीते दिग्दिगन्त।
पर खुद को जीत नहीं पाया
पाया दुखदायी घोर अन्त।

जो शक्ति सृजन के लिए मिली
वह ध्वंस धर्म अपनाती है
फिर पश्चात्तापों से घिरकर
आँसू-आँसू हो जाती है।

अज्ञान शक्ति के मद में पड़
सत्पथ से मनुज भटकता है,
फिर अन्त समय में पछताता
सिर अपना व्यर्थ पटकता है।

यदि शक्ति मिली है हम सबको
उन्नयन करें सद्भावों का,
साधना खड्ग लें उठा
अन्त कर दें सब द्वेष-दुरावों का।

दीनों के दुखड़ों पर टूटो
खुशियों के दो उपहार परम,
दारिद्र देश का धो डालो
सेवा का धारण करो धरम।

यदि नहीं गरीबी वेकारी
मिट सकी धरा से जीवन में,
तो फिर भविष्य के मन्दिर में
सुख होगा सोच न निज मन में।

जीता न कहीं कोई, सबके
संकल्प अधूरे छूट गये,
अम्बा की आशा के सपने
थे एक बार फिर टूट गये।

पश्चात्तापों की धाराएँ
लहरायीं थी उर-अन्तर में,
''धरती की लुटती रही माँग
मैं रही देखती संगर में।
कामना राक्षसी ने मेरी
कितनों को भक्षण कर डाला,
कितनों का सब कुछ चबा गयी
कितनों पर चिर संकट डाला।

कामना विसर्जित कर पाती
तो नहीं नाश लीला होती।
लाशों से पटती नहीं मही
रक्तिम आँसू भर क्यों रोती?

मैं अपराधिनी जगत की हूँ
दुख-दण्ड सदा ही पाऊँगी।
पर भीष्म समय आने पर
तुमको काल पाश दिखलाऊँगी।''

लोहू से लतपथ परशुराम
बोले अम्बा से करुण वचन-
''पुत्री! जो मेरे वश का था
वह मैंने पूरा किया कथन।

पर तेरी अमिट भाग्य रेखा
लड़कर भी मिटा नहीं पाया,
मैं नहीं भीष्म को जीत सका
जगभर को जबकि जीत आया।

है साथ तुम्हारे शुभाशीष
जो ब्राह्मण का अपना धन है।
इसके अतिरिक्त धरित्री पर
उसका न कहीं कुछ साधन है।

हे ऋषे! जगत में सब कुछ है
आधीन एक सर्वेश्वर के।
नर की तो अपनी सीमा है
मन का होता अखिलेश्वर के।

है इच्छा यही जगतपति की
पर मैं न हार स्वीकारूँगी।
उत्थान-पतन का कालचक्र
देखूँगी राह निहारूँगी।

है अभी भीष्म का भाग्य प्रबल
इसलिए अजय-सा लगता है,
रहता न भाग्य का रूप एक
घटता है क्षण में बढ़ता है।

सन्नद्ध रहेंगे अस्त्र-शस्त्र
कब तक जीवन के रक्षण में?
तप से वह जीता जाता है
जो अविजित रहता है रण में।

मैं भीष्म नाश के लिए
कठिन तप करके शक्ति जुटाऊँगी।
भीतर बाहर देवव्रत के
ज्वाला कराल धधकाऊँगी।

होकर समर्थ सब भाँति
भीष्म हित कर न किसी का पायेगा
है वीर किन्तु बन अर्थदास
जीवन को व्यर्थ गँवायेगा।

जिस राजवंश की प्रगति हेतु
कर दिया नष्ट मेरा जीवन
उसको ही होता नष्ट देख
तिल-तिल कर झुलसेगा तन-मन।
वेदना-शरो से बिंधा हुआ
निश्चल सा शुष्क शरीर लिये,
कामना मुक्ति की निराधार
प्राणों में अक्षय पीर लिये।

इस रक्त रंजिता धरती पर
स्वागतम् मृत्यु का करने को,
तैयार रहो हे भीष्म!
काल के हाथों यहाँ बिखरने को।

मेरे उर-अन्तर में अखण्ड
जल रही चिता है धू-धूकर
बाहर ज्वालाओं का संकुल
ले देख भीष्म! मुझको छूकर।

अब भाग कहाँ तक भागेगा
देखूँ कैसे बच पायेगा?
उत्तप्त अश्रु की धारा में
गिरकर तिल तिल जल जायेगा।

दुहराती हूँ संकल्प धरा-
अम्बर साक्षी हैं दिग्दिगन्त,
"मेरे जीवन का लक्ष्य एक
है भीष्म! तुम्हारा दुखद अन्त"

सहकर अम्बा के शब्द घात
चल दिये भीष्म लतपथ काया,
अपराध बोध से दबा हृदय
कब क्षमा स्वयं को कर पाया?

निज आश्रम लौटे परशुराम
अपमान दग्ध था अन्तस्तल,
"क्षत्रिय को विद्या मैं न कभी
अब दूँगा" प्रण कर लिया अटल।

करता कोई अपराध, दण्ड-
कोई उसका जग में पाता,
अन्यथा कर्ण क्यों अर्जुन से
रणकला भूल मुँह की खाता।

• •

卐

हो विवश हाय! अम्बा चली सिर झुका
मौन ऋषि कुल हुआ कर न कुछ भी सका।
घट सुधाघट नहीं बन बन सका आज फिर
रह गया रिक्त जीवन नहीं भर सका।
धर्म पालन हुआ युद्ध भीषण हुआ
शान्ति का किन्तु साधन नहीं कर सका।
अब करेगी तपस्या प्रबल बालिका
रंच उसके मनस का न दुख हर सका।

卐

7

तपस्या

बढ़ रहा ताप-सन्ताप है ग्रीष्म का
तप रहे जन, विजन, भू, गगन आग-से।
चाहती छाँह भी छाँह शीतल मिले
छाँह के भी गये फूट हैं भाग-से।
है ठहर-सी गयी प्यास बुझती नहीं
हो रहे प्राण-मन हैं विकल राग-से।
तप रहे ग्रीष्म अम्बा समान्तर प्रखर
होड़ के भाव मानो गये जाग-से।

सान्ध्य बेला सहज शान्ति संचारिणी
हारिण दैन्य दुख श्रान्ति की क्षारिणी।
स्वर मुखर भव्य नीराजनों के हुए
वेद मन्त्रध्वनी सर्व सुख कारिणी।
जा रहे नीड़ की ओर द्विज दल विपुल
भावनाएँ मृदुल्लास की धारिणी।
श्रान्त दिनमणि प्रतीची प्रिया से मिले
है मिलन की घड़ी पूज्य अधिकारिणी।

कर्म का ढल रहा है दिवाकर सतत
छविछटा पे घटा श्रान्ति छायी हुई।
ईगुरी-ईगुरी है प्रतीची दिशा
सौम्य सुकुमारिका कान्ति छायी हुई।
है धरा पर जगी सान्ध्य बेला मधुर
व्योम से भूमि तक शान्ति छायी हुई।
किन्तु अम्बा मनस में घिरी चिन्तना
शोध-प्रतिशोध की क्रान्ति छायी हुई।

रूप की राशि है उग्र तेजस्विता
प्राण में अग्नि के सिन्धु की गर्जना।
वर्जना कर रही शान्त सन्ध्या मगर
हो रही भीष्म संहार की सर्जना।
''हाय! जिसने किया भग्न जीवन मधुर
स्वप्न सोनल सभी सह गये वर्जना।
क्रूर निर्मल कुटिल घोर संतप्त हो
अश्रु मेरे कभी हो सके बन्दना।

जीवनोद्यान में भीष्म झंझा बने
नष्ट सब कर दिये कामना के कुसुम,
घोर अभिशप्त जीवन हुआ फूल-सा
कंटकित कर गये हाय! हर पंथ तुम।
उर-गगन में घिरी क्रोध की बदलियाँ
प्रेम के घन सघन हो गये आज गुम।
है धधकती हुई एक ज्वाला बची
आमरण जो बुझा भी सकोगे न तुम।

कर उपेक्षा न यों प्राण पण पर न धर
दम्भ पाखण्ड की होलिका को जला।
क्यों बुझाता हृदय की मधुर ज्योति को
घोर तम में न तन मन मनोहर गला।
है तिरस्कार में भी समाधान क्या,
जो समाधान था वह दिया क्या भला।
बैठने चैन से मैं न दूँगी तुम्हें
साँस प्रतिसाँस से उठ रहा जलजला।

सींच जो वंश वट खूब उन्नत किया
नष्ट होता उसे रात-दिन देखिए।
अश्रु भी साथ देंगे नहीं उम्रभर
जिन्दगी दुर्दिनों से भरी खींचिए।
चैन तिलभर नहीं पा सकोगे कभी
न्याय अन्याय पर मौन दृग मीचिए।
सो सकोगे नहीं, खा सकोगे नहीं
रह सकोगे नहीं शान्ति से सोचिए।

कोस अम्बा रही भीष्म अन्याय को
दग्ध मानस लिये जा रही पंथ पर।
तीर्थ से तीर्थ चलती रही ढूँढ़ती
भीष्म के नाश का मन्त्र इच्छित प्रखर।
चित्त की वृत्तियों को समेटे हुए
चीर प्रण का लपेटे हुए अंग पर।
एक ही कामना एक ही भावना
एक ही लक्ष्य है भीष्म विध्वंस कर।

कोमला भावनाएँ जगी थीं कभी
सूखकर हो गयीं पीर शमशीर-सी।
चम्बलों सी हुई घोर बीहड़ अतुल
जो सजी थी कभी भव्य कशमीर-सी।
प्रेम की रश्मियाँ शूलियों पर चढ़ीं
चन्द्रिका जल गयी प्राण में क्षीर-सी।
देखती रह गयी मैं अभागिन बनी
लुट गयी धर्म की हाय! जागीर-सी।

तीर्थ पर तीर्थ करती निरन्तर रही
माँगती ध्वंस हो मानवी दंश का।
धर्म से हीन मनुजत्व है हो रहा
दुःख वर्धन हुआ न्याय के हंस का।
अश्रुभर रो रही है धरा देव! फिर
बढ़ रहा वंश है क्रूरता कंस का।
पाप सन्ताप सहती जहाँ नारियाँ
नाश हो उस अधर्माचरी वंश का।

तप रही क्षण प्रतिक्षण सतत गतिमती
तप्त अम्बा विकट काल विकराल में।
तप रहे प्राण मन तप रहा पूर्ण तन
तप रहा प्रण प्रबल एक हर हाल में।
साधना शक्ति की घोर आराधना
शत्रु के नाश की चिन्तना भाल में।
''नष्ट जीवन किया भीष्म! तुमने तुम्हें
भेज दूँगी बली काल के गाल में।''

प्राणपण से जुटी शक्ति केन्द्रित किये
पर अभी कर सकी शक्ति धारण नहीं।
चित्त प्रतिशोध की अग्नि में जल रहा
कर सका रंच भी शान्ति धारण नहीं।
वेदनाएँ प्रगति नित्य करती रही
हो सका था कहीं भी निवारण नहीं।
मिल सका था न सन्तोष तृण भी कहीं
मिल सका था कहीं मन्त्र मारण नहीं।

पंथ पर भीष्म की माँ मिली जाह्नवी
पूछने थी कुशल क्षेम मंगल लगी।
''जन्म से मैं तुम्हें जानती हूँ सुते!
तू सदा शान्ति की मूर्ति प्रतिपल लगी।
देवि! तुम हो सुता श्रेष्ठ काशीश की
स्नेह सद्भाविनी छवि दिगंचल लगी।
किन्तु क्यों है दृगों की अरुणिमा प्रखर
क्रोध अभिसिंचिता-सी अचंचल लगी।

उत्सवों पर तुम्हें पूजनोत्सुक सदा
दर्शनोत्सुक सदा देखती मैं रही।
किन्तु कुछ वर्ष से हो न दर्शन सके
ब्याह शायद हुआ मानती मैं रही।
तीरथों में भटकते हुए देखकर
घोर आश्चर्य को पालती मैं रही।
ब्याह तेरा हुआ मैं न पूजी गयी
हो अभी और क्या सोचती मैं रही।

अंग उद्दीप्त नव किन्तु नीरस सकल
भूषणों से रहित छवि अचंचल बनी।
क्यों न जाने प्रभाती प्रभाती नहीं
शान्त सन्ध्या सदृश पश्चिमांचल बनी।
दिव्य काशी धराधाम का धाम है
कीर्त्ति कुल की सदा से समुज्ज्वल बनी।
लग रही हो अभी देवि! सुकुमारिका
क्यों प्रभा छवि सभा दीन निर्बल बनी?''

बाण से शब्द उर में प्रविशते रहे
घात पर घात सहती रही निर्बला।
कुछ नहीं कह सकी मान सम्मान बस
मौनव्रत-सा लिये ज्यों सहज चंचला।
उत्तरित हो न पाये कई प्रश्न पर
जाह्नवी को मिला एक उत्तर खला।
''देवि गंगे! यही एक उद्देश्य है
भीष्म के नाश की आस हो सत्फला।
देवि गंगे! जरा धैर्य धारण करो
आपके पुत्र का धर्म दर्शन कहूँ।

नीति में, न्याय में लोक विख्यात है
ज्ञान विज्ञान का मान-वर्धन कहूँ।
वीर योद्धा परम शस्त्र चालक अतुल
भक्ति सम्पन्न मन को महामन कहूँ।
कर न पाया वरण कर हमारा हरण
किस तरह आचरण हाय! पावन कहूँ।''

"देवि अम्बे! सुने सत्य मैं कह रही
तुम कभी भीष्म को मार सकती नहीं।
शक्ति है भीष्म की सिद्ध अपराजिता
कोमला कर उसे पार सकती नहीं।
व्यर्थ की कर प्रतिज्ञा विसर्जित अरे!
क्या दयाधर्म को धार सकती नहीं।
शेष जीवन करो ईश्वरार्पण सहज
प्रभु चरण में हृदय वार सकती नहीं?"

"दग्ध मेरा हृदय शान्ति की साधना
कर न सकता कभी सत्य मैं कह रही।
दग्ध की पीर है दग्ध ही जानता
बह्नि की धार कैसे कहाँ बह रही।
दग्ध अन्तस न तेरा कभी है हुआ
इसलिए शान्ति उपदेश है कह रही।
शक्ति साधन विपन्ना विवश मौन हो
आज तक अग्नि के बाण मैं सह रही।

"देवि! यह तो नहीं है कथन आपका
पुत्र का मोह यह पुत्र का पक्ष है,
पुत्र अपराध करतारहा आज तक
विश्व जिसको चुका देख प्रत्यक्ष है।
दक्ष हैं आप भी धर्म उपदेश में
आपका पुत्र भी पूर्णतः दक्ष है
मोह दुर्बल बनाता सदा न्याय को
घोर अपराध के जोकि समकक्ष है।

बह रही हो बहो सृष्टि सेवार्थ तुम
लोक मंगल करो लोक आलोक बन,
ज्यों न ठहराव जीवन तुम्हारा चहे
चाहता त्योंहि ठहराव मेरा न मन।
देवि गंगे! यही लक्ष्य है एक बस
भीष्म के नाश का पुष्ट साधन सृजन,
योग, वैराग्य, पूजन, भजन है यही
है अखण्डित यही एक चिन्तन-मनन।

लील ले सिन्धु क्षिति सृष्टि का हो क्षरण
अग्नि शीतल बने, नीर पाहन बने।
पंथ से मैं न तिलभर टलूँगी कभी
भानु ठहरे भले काल का संचरण।
लक्ष्य की प्राप्ति होती न जब तक मुझे
गतिमती मैं रहूँगी सतत आमरण।
देवि! विश्वस्त हूँ एक दिन लक्ष्य को
प्राप्त कर शान्ति का मैं करूँगी वरण।''

''देख अम्बे! न हठवादिता है उचित
घोर हठ शान्ति का नाश करती सदा,
क्यों न जड़ता जड़ी दूर उर की करो
चित्त की काँकरी दुःख भरती सदा,
मानसिक कर्म जब हीन होते सघन
द्वेष की भावना कान्ति हरती सदा,
क्रोध मन को मरुस्थल बना डालता
रेत उड़ दृष्टि को है अखरती सदा।

मैं तुम्हें हूँ बनाती नदी गतिमती
अर्धतन से नदी बन बहो भूमि पर,
धार में वक्रता, कर्म में वक्रता
नाम तव 'वक्र-सरिता' रहेगा मुखर,
मात्र बरसात में पूर्णता प्राप्त कर
लोक में आपका आप होगा प्रखर,
शेष जीवन सदा रेत के खेत-सा
मौन निष्फल निरन्तर रहेगा सखर।

व्यर्थ ठहराव है, है निठुर जिन्दगी
मिल सकी कब किसी को यहाँ पर शरण,
है शरण चिर जहाँ शान्ति अक्षय भरी
प्राप्त करना उसे तोड़ सब आवरण।
कन्त का अंक ही मिल गया हो जिसे
फिर उसे छू न सकता जनम या मरण।"
शब्द नीरव हुए जाह्नवी के सहज
किन्तु गति में न यति आ सकी एक क्षण।

कर लहर के उठाती हुई जाह्नवी
पंथ अपना मनोहर बनाती चली,
मुस्कुराती चली कुछ लजाती चली
लोक मंगल सुधाघट लुटाती चली,
अंक प्रिय का मिलेगा सनातन मधुर
भावना-दीप उर में जलाती चली,
कामना के मधुर गीत गाती चली
शान्ति के स्वप्न पावन सजाती चली।

स्वप्न तो स्वप्न है—स्वप्न की बात क्या
पूर्ण होते न हर बार देखे गये,
सोचती रह गयी मौन अम्बा खड़ी
पर न मन प्राण से सार देखे गये,
बन गयी वह 'नदी-वक्र' ग्राहों भरी
हैं जहाँ रेत के भार देखे गये,
लोक मंगल अमंगल बना है जहाँ
क्रान्ति के तीव मझधार देखे गये।

अर्धतन से बनी वत्सकुल की सुता
किन्तु प्रतिशोध की ज्योति जलती रही,
भावना भीष्म के पूर्ण संहार की
प्राण में नित्य पलती सम्हलती रही,
कर उठी घोर तप भीष्म के नाश हित
क्रोध संतप्त-सी वह उबलती रही,
नष्ट जीवन कठिन, नित्य करती रही
कंटकित पंथ पर हाय! चलती रही।

सिद्ध-आसन लगा भानुजा के निकट
ध्यान प्रलयेश का कर उठी थी सघन,
भेद सप्तावरण जा सहस्रार पर
व्योम निस्सीम का दर्श अपलक नयन,
तप रही कोमलांगी परम तप्त-सी
तप रहे स्वप्न हैं तप रहे प्राण-मन,
देखकर तप कठिन देव समुदाय सब
हो उठा था प्रकम्पित सहज भीत मन।

शम्भु हर्षित हुए देख तप देवि का
चल पड़े छोड़ कैलाश पावन शिखर,
ध्यानमग्ना जहाँ शान्त अम्बा सहज
शम्भु आये उसी भानुजा तीर पर,
कह उठे "माँगिए देवि! वर माँगिए
मैं प्रफुल्लित हुआ देखकर तप प्रखर,
कामना जो रही है घनीभूत हो
कह, सभी पूर्ण होगी न संकोच कर।"

शम्भु पद पंकजों में निवेदित नमन
कर उठी प्रार्थना देख संकट शमन,
निज व्यथा की कथा सब कही देव से
नाथ! वरदान दो हो सके शान्त मन,
कर सकूँ शीघ्र ही अन्त मैं भीष्म का
घिर सकें शान्ति के प्राण में घन सघन,
नाथ! जय हो तुम्हारी हमारी विजय
जग उठी प्राण में एक आशा किरन।'

दे रहा हूँ तुम्हें देवि! वरदान मैं
जन्म लोगी द्रुपद की सुता दिव्य बन,
किन्तु कुछ काल के बाद पुंषत्व पा
युद्ध में भीष्म का कर सकोगी दमन।
अग्नि को तन समर्पित करो शीघ्र ही
तीसरा जन्म पाओ प्रखर शक्ति बन।"
साध पूरी हुई तप विसर्जित हुआ
हर्ष गद्गद हृदय प्रेम विह्वल नयन।

× × ×

''भीष्म! तुमने मुझे दी चिता व्यंग्य की
हाय कुछ भी न सोचा बिचारा कभी।
प्रज्ज्वलित अग्नि मुझमें वही आज तक
कर न पलभर सकी मैं किनारा कभी।
मैं जली, तुम जले और जलते रहो
पा सके तुम, न मैं शान्ति धारा कभी।
काल से हैं सभी हारते एक दिन
पर किसी से नहीं काल हारा कभी।

वेदना की घटाएँ घिरी ही रहीं
ज्योति मुस्कान की पा सकी मैं नहीं,
नीर-निर्झर बने दृग सलोने युगल
पीर नर्तित रही गा सकी मैं नहीं,
भाग्य ने खेल खेला सदा है यहाँ
पर उसे रंच भी भा सकी मैं नहीं,
शूल पर शूल नित मारता ही रहा
मृत्यु के द्वार पर जा सकी मैं नहीं।''

कर चिता शीघ्र तैयारं अम्बा हुई
दग्ध जीवन, दिया अग्नि में दग्धकर,
रह गये स्तब्ध नभ भूमि तप त्याग से
भानुजा डर गयी डर गयी हर लहर,
धूम्र के घन सघन हैं तटों पर घिरे
हैं घिरे भाव प्रतिशोध के या प्रखर,
'भीष्म! रहना सजग आ रही शीघ्र मैं
अन्त करने तुम्हारा लिये शस्त्र कर।'

●●

卐

रण किये मैंने बहुत हैं सहे वार अनन्त,
खड्ग बाण प्रचण्ड रंजित रक्त जीवन अन्त,
पर न वह पीड़ा हुई जो आज तक है मौन
हार अपनों से गया मैं, सुने आखिर कौन?

जन्म लेते ही गये उड़ शान्ति सुख के हंस,
ओह! फिर-फिर दंश का क्यों बढ़ रहा है वंश?
दग्ध कर निज देह अम्बा हुई शून्य समान
शून्य में भी धधकते प्रतिशोध में है प्राण।

卐

8

द्रुपद का पुत्रेष्टि यज्ञ

जाह्नवी का अंक पावन परम रम्य पुनीत,
देख पुण्य प्रताप अक्षर पाप पुञ्ज सभीत,
धार-धार प्रणम्य निर्मल तट सहज सद्धर्म-
ज्ञान-ध्यान-महान-दायक पूर्ण उज्ज्वल कर्म।

केन्द्र संस्कृति का सदा से पूज्य वर पाञ्चाल,
जाह्नवी का है दुलारा देश यह सब काल,
है यहीं कम्पिल सुखद मठ मन्दिरों का धाम,
साधकों सन्तों महन्तों का बना श्रीग्राम।

शान्तिप्रिय जन प्रिय प्रशासक श्री द्रुपद नृप श्रेष्ठ,
आर्य संस्कृति के दुलारे सुत प्रतिष्ठित ज्येष्ठ।
शान्त उर में भी हुई है शान्ति किन्तु मलीन,
पुत्र हीन वलक्ष कुल की छवि छटा है दीन।

दुखद चिन्तन से ग्रसित हैं श्री द्रुपद महाराज,
लग रहा है शून्य-सा सब शून्य शासन साज।
"क्या न जाने भाग्य में मेरे लिखा है राम!
क्यों न अब तक भाव मन का हो सका निष्काम?

धर्म है गार्हस्थ्य, यह है पितृ ऋण का भार,
नित्य चिन्ता खड्ग मे जो कर रहा है धार,
सोचता मन पुत्र बिन जीवन विफल-निःसार,
व्यर्थ ही यह भोग-वैभव व्यर्थ यह अधिकार।

रच न पाये एक भी नव दीप का संसार,
व्यर्थ यौवन सिन्धु में उठते रहे हैं ज्वार।
देखकर शैशव छटा को खिलखिलाती सृष्टि,
क्यों न फिर कर दे भला निज स्नेह की अतिवृष्टि?

किन्तु है जकड़े मुझे दुर्भाग्य की जंजीर,
हृदय मेरा बन चुका है दुःख का मंजीर,
भीष्म का अपमान हरपल मारता है शूल,
डाल मैं अब तक न पाया क्रोध पर निज धूल।

नित्य ही रहने लगा मन प्रखर चिन्ता ग्रस्त,
घोर तमसाविल भविष्यत देख होता त्रस्त,
क्या लिखा है भाग्य में कुछ भी न होता ज्ञान?
अब कृपा कर दो प्रभो! कुछ, हैं दुखी मन प्रान।

कर न सकते कार्य जो संसार साधन सिद्ध,
साधना करती उसे है सहज सिद्ध-प्रसिद्ध।
द्रुपद ने निश्चय किया मैं करूँगा तप घोर,
विश्व की हर कोर दूँगा एक दिन झकझोर।''

ले कठिन संकल्प नृप ने किया शिव का ध्यान,
साधना आरम्भ कर दी लिये लक्ष्य महान,
देखकर नृप का कठिन तप शम्भु हुए प्रसन्न,
आ गये वरदान देने सर्व गुण सम्पन्न।

देख शिव के पद कमल नृप हो गये सानन्द,
धन्य जीवन हो गया शिव कृपा प्राप्त अमन्द।
''जगत के सुखसार पावन जगत के आधार,
वन्दना कैसे करूँ मैं घोर तम आगार।

तुम्हीं करुणा सिन्धु पावन दीनबन्धु दयाल!
तुम्हीं कालातीत हो प्रभु! तुम्हीं काल कराल,
सतत सक्रिय है तुम्हीं से पवन का संचार,
है तुम्हीं से व्याप्त व्यापक व्योम का विस्तार।

सृष्टि का सर्जन-विसर्जन है तुम्हारे हाथ,
मैं अकिंचन एक अणु-सा जुड़ा जग के साथ।
हीन हूँ मैं दीन हूँ कपटी कुटिल हे नाथ!
स्वार्थवश ही मैं झुकाता हूँ सदा निज माथ।

नाथ! मेरे हृदय में प्रतिशोध का है भाव,
सह रहा हूँ आज तक मैं भीष्म का दुर्भाव,
देव! मेरे हृदय की उस आह पर दो ध्यान,
जो व्यथित है आज तक सह लोक में अपमान।

''चाहते हो क्या द्रुपद! बोलो सही सब आज?
कहो तो दे दूँ अकंटक स्वर्ग का भी राज।
मैं तुम्हारे त्याग तप से पूर्ण हूँ सन्तुष्ट
कहो निज दुख, दूर कर मैं सुख तुम्हें दूँ पुष्ट।''

''नाथ! मुझको दीजिए वह पुत्र परम समर्थ,
कर सके जो भीष्म की हर शक्ति क्षण में व्यर्थ।
दुःख की ज्वाला धधकती देखता भी कौन?
मान मर्दन सह गया मैं रह गया बस मौन।

भीष्म का पौरुष अभी तक है अजेय अभंग,
देख जिसकी वीरता सुर नर सभी हैं दंग,
दे रहा है आज तक अन्याय का जो संग
भीष्म का रण रंग ऐसे हो न सकता भंग।

है दहकती अनवरत अपमान की वह ज्वाल,
आज तक जिसको न मुझसे छीन पाया काल।
शान्ति का है एक साधन भीष्म का बस नाश,
चाहता हूँ पूर्ण कर दो यही अन्तिम आस।''

''द्रुपद! कन्या एक होगी प्राप्त तुमको वीर,
जो बनेगी पुरुष पीछे शक्ति नद गंभीर।
देवव्रत की मृत्यु का बनकर महान निमित्त,
शान्ति के शुचि नीर से शीतल करेगी चित्त।

सत्य होगा यह कथन समझो न मिथ्या रंच,
अब रहो निश्चिन्त राजन! छोड़ सकल प्रपंच।
ऋषिगणों को सिर नवाकर करो यज्ञ विधान,
यज्ञ ही करता रहा है जगत का कल्याण।

यज्ञ से ही तुम्हें कन्यारत्न होगा प्राप्त,
जो करेगा एक दिन सब दुख समूल समाप्त।
यज्ञ से बढकर न जग में श्रेष्ठ कोई कर्म,
यज्ञ करना ही मनुज का प्रथम पावन धर्म।

यज्ञ ही संसार का आधार है सिरमौर,
यज्ञ हीन मनुष्य पाता है न कोई ठौर।
शम्भु ने इच्छित द्रुपद को दे दिया वरदान,
हुए अन्तर्धान क्षण में दे गये गुरुज्ञान।

कर सुदृढ़ संकल्प नर यदि ठान ले कुछ ठान,
तो सुनिश्चित प्राप्त होगा लक्ष्य पूर्ण महान।
किन्तु है यदि स्वार्थ प्रेरित साधना का मूल,
तो न जीवन में खिलेगा शान्ति का सुख-फूल।

द्रुपद का पुत्रेष्टि पावन यज्ञ सफल सकाम,
प्राप्त कन्यारत्न कर नृप हो उठे सुखधाम,
किन्तु रानी ने प्रचारित कर दिया कुछ और,
"पुत्र जन्मा है महल में राजकुल-शिरमौर।"

द्रुपद हर्षित हो उठे वरदान पाकर पूर्ण,
दुःख चिन्ता के सभी गिरि हो चले थे चूर्ण,
देखकर निज तप फलित श्री शम्भु का वरदान
वन्दना पद-पंकजों की कर उठे मन-प्राण।

धन्य हैं कैलाशवासी धन्य है कैलाश,
कह रहे जो बहुप्रतीक्षित पूर्ण मेरी आस।
आज उर में है भरा आनन्द ही आनन्द,
पा गया ज्यों भक्त कोई पूर्ण परमानन्द।"

पुत्र जैसे ही किये शिशु के सभी संस्कार,
पण्डितों ने श्री शिखण्डी नाम रखा विचार।
हर तरफ था उमड़ आया हर्ष सिन्धु अपार
हो उठा पांचाल में था मधुर मंगलचार।

गूँजते थे गीत पावन वेद मन्त्रोच्चार,
खिल रहे थे स्वर्ण वारिज मानसिक साभार,
उपवनों में भ्रमरदल करने लगे गुंजार
पाटलों में जग उठा मृदुहास का नव ज्वार।

हो उठा परिवेश हर्षित शान्तिमय अनुकूल,
व्योम से झरने लगे नव चन्द्रिका के फूल।
शुभ्र वसना धरित्री हरिताभ अंग-उमंग,
मलय पवन प्रफुल्ल निर्मल कान्ति अनुपम संग।

यश शिखण्डी का चतुर्दिक बढ़ रहा अम्लान,
शस्त्र-शास्त्र समस्त ज्ञान सहेज ज्योतिर्मान,
किन्तु देवव्रत शिखण्डी से न थे अन्जान,
'अरे! यह तो वही अम्बा है रखा प्रण ठान।'

नित्य ही जो कर रही मुझ पर प्रचण्ड प्रहार,
है वही मेरे मनस के द्वन्द्व का आधार।
आज तक मन में बसी है वह मधुर ललकार,
ज्यों धँसी है हृदय मेरे फूल की तलवार।

छिपा है जिसके हृदय में धधकता प्रतिशोध,
पन्थ पर यद्यपि खड़े हैं जन्म-मरण विरोध।
जन्म बदला पर न बदली हाय! पागल बुद्धि,
नाश कर मेरा भले यह प्राप्त कर ले शुद्धि।

धन्य अम्बा! आज तक तुझमें अटल विश्वास,
मौन में मेरे मुखर हो रहे वाग-विलास।
मिट न सकती अमर तेरी चेतना की दूब,
तुम पुरुष हो नाम से ही जानता हूँ खूब।

कौन से आघात करने रह गये हैं शेष?
जोबदलती जा रही हो व्यर्थ अपने वेश।
नित्य ही आघात करते शब्द के वे बाण,
बेधते रहते हृदय को किन्तु रक्षित प्राण।

कर न मैं कुछ भी सका निज धर्म बस असमर्थ,
था अजेय परन्तु मेरी शक्ति सत्ता व्यर्थ,
दास-सा वीरत्व जग में दीन-हीन-मलीन,
कर न मैं निर्णय सका धिक् हाय! न्याय प्रवीन।

धर्म-दर्शन-शास्त्र उन्नत शक्ति सब निरुपाय,
कौन-सी जाने विवशता जग उठी थी हाय!
जो न तुमको दे सका मैं न्याय का उपहार,
सह रहा हूँ आज तक मैं स्वयं की धिक्कार।

अस्त्र-शस्त्रों के सहे हैं वार अगणित बार,
हार को मैंने न जाना और मुझको हार।
किन्तु तेरे शब्दभेद अभेद्य को भी भेद,
चीरकर मेरे हृदय तक आ गये, पर खेद-

स्वागतोत्सुक हो न पाया एक क्षण बन ढाल,
रत्न पीड़ा के सम्हाले हाल है बेहाल।
है मिला सम्मान यद्यपि जगत में सब ओर,
किन्तु अपनों से उपेक्षा ही मिली है घोर।

मोह ने जर्जर किया मेरा सकल उर प्रान्त,
क्यों न अब तक जग सका सन्यास पुण्य निशान्त।
ज्ञान का यद्यपि मिला था मुझे पूर्ण प्रशान्त,
हाय! जीवनभर रहा मैं किसलिए दिग्भ्रान्त?

रही जीवन भवन में बस घिरी तम की रात,
चन्द्र-सा वंचित रहा देखे न सुखजलजात।
जिन्दगी थी रम्य लेकिन हो न पायी रम्य,
रह गया है शेष केवल दाह-दुःख अगम्य।

पाप मेरे पूर्वकृत शायद उठे कुछ जाग,
भाग्य में मेरे लगाते जा रहे जो आग।
सुखों का दर्शन मिला है भोग-भाग निषिद्ध,
मृत्यु की व्याकुल प्रतीक्षा कर रहा शरविद्ध।

हाथ में सबकुछ रहा पर कुछ न आया हाथ,
नाथ होकर भी रहा मैं पूर्ण रिक्त अनाथ।
घोर पश्चात्ताप में अब जल रहा है चित्त,
दुःख का तेरे बना मैं एक मात्र निमित्त।

विश्वविजयी शस्त्र मेरे हैं सकल नतभाल,
चाहता हूँ तू बने अब शीघ्र मेरा काल।
व्यर्थ ही इस पंच भौतिक को रहा मैं रक्ष,
ओ शिखण्डी! शस्त्र लेकर छेद मेरा वक्ष।

卐

जाने क्यों है बार-बार स्मृति का पट खुलता,
धूमिल-धूमिल से अतीत का बिम्ब उभरता।
हुई शिखण्डी जब अम्बा ही परिवर्त्तित हो,
हास्यास्पद हो गयी ब्याह से अपमानित हो।

अम्बे! तूने बार-बार अपमान सहा है,
सदा भाग्य ही तेरा तुझसे रुष्ट रहा है;
किन्तु न मानी हार निरन्तर जाग रही थी,
मेरे लिए और संचित कर आग रही थी।

卐

९

शिखण्डी का ब्याह एवं पुंसत्व प्राप्ति

शस्त्र-शास्त्र-मर्मज्ञ वीर-योद्धा प्रतिभावर,
सरल सुशील विनीत शिखण्डी सद्गुण आगर।
नृप हिरण्यवर्मा ने जाना कुँवर मनोहर,
ब्याही अपनी सुता सुन्दरी हर्षित होकर;

किन्तु ब्याह कन्या का था निर्मूल्य निरर्थक,
समझ गये नृप हुआ छलकपट मुझसे भरसक।
'घोर हुआ अन्याय हाय! यह साथ हमारे,
रहे देखते मौन उसे हम नैन उघारे;

किन्तु सुता के जीवन का क्या निर्णय होगा?
ओह! किस तरह स्वर्णकाल उसका व्यय होगा?
आखिर क्योंकर किया द्रुपद ने यह दुस्साहस?
सम्बन्धों का फोड़ दिया क्यों कुम्भ-सुधारस?

अरे! द्रुपद! यह कैसा अनुसंधान किया है?
ब्याह सुता से सुता घोर अपमान किया है;
किन्तु जानता नहीं विलक्षण शक्ति हमारी,
काँप उठेगा हृदय देख रण की तैयारी।

अस्त्र-शस्त्र मेरे लेंगे प्रतिशोध भयंकर,
जायेगा तू कहाँ इस तरह अपमानित कर?
मेरा क्रोध प्रवाह नष्ट तुमको कर देगा
खींच महल से अब अंगारों पर धर देगा।

किया घोर अपराध द्रुपद तू पछतायेगा,
दण्ड प्राप्त कर मेरे द्वारा दुख पायेगा।''
''लेकर सैन्य विराट राज्य का घेरा डालूँ,
बन्दी करूँ द्रुपद को उर का ताप मिटा लूँ।''

जान शिखण्डी, शिखण्डिनी है द्रुपद बिचारे-
संकट में पड़ गये, करें क्या दुख के मारे।
''क्या असत्य होगा शिव जी! वरदान तुम्हारा?
लगता है अब मिट जायेगा मान हमारा।

घटे न महिमा रंच आपकी यही मनाऊँ।
चिन्ता नहीं रहूँ या मैं तिल-तिल मिट जाऊँ।
नाथ! करो कुछ कृपा सभी संकट टल जायें,
लौटें शत्रु और हम निज अभीष्ट भी पायें।

रहे न उसके दुख, जो आया शरण तुम्हारी,
फिर भी मेरी दशा आपने क्यों न विचारी?
ले त्रिशूल प्रभु! आज शूल मेरे सब हर लो,
मुझ अनाथ की नाथ! आज फिर रक्षा कर लो।

चरणों पर धन-धाम समस्त समर्पण कर दूँ,
चाह रहा मन प्राण हृदय सब अर्पण कर दूँ।
किन्तु कोष दृग के ही तो केवल अपने हैं।
इनके सिवा कोष धरती पर सब सपने हैं।

शरणागत को रक्ष देव! निज धर्म निभाओ,
लाज रखो अब मेरी मेरा धर्म अचाओ।
रहते समय कृपा यदि मुझको मिल न सकेगी,
तो जीवन की त्रसित लता फिर खिल न सकेगी।''

नृप हिरण्यवर्मा चल पड़ा सैन्य संचित कर,
लगा घेरने द्रुपदराज्य को शत्रु समझकर।
देखराज्य पर घोर संकटों के घन छाये,
चिन्तित हुआ शिखण्डी 'मेरे कारण आये।'

फलित हुआ माता का दुर्बल पुत्रमोह है,
जिसके कारण नष्ट हुआ सम्बन्ध छोह है।
मैं भी तो माता की आज्ञा टाल न पाया,
क्षणभर का यह हर्ष अपरिमित पीड़ा लाया।

मेरे सिवा और होता यदि कोई कारण,
तो मैं करता घोर युद्ध कर अरि-संहारण,
किन्तु क्या करूँ हाय! लाज मुझको आती है,
आत्म हनन के सिवा न कोई गति भाती है।

आये हैं जब संकट तो टल भी जायेंगे,
किन्तु न लज्जित मुख अपना हम दिखलायेंगे।
या तो शिव की कृपा मुझे अब पौरुष देगी,
या कर जीवन भग्न दुःख मेरे हर लेगी।

शायद यह भी जन्म व्यर्थ ही अब जायेगा,
क्या मेरा प्रतिशोध न पूरा हो पायेगा?
नये जन्म तक भीष्म प्रतीक्षा करना मेरी,
करके युद्ध समाप्त करूँगी लीला तेरी।

देखूँ कब तक भाग्य बली रहता है तेरा?
नहीं टूटता कब तक दृढ़ जीवन का घेरा?
कब तक फलित न होगा दृढ़ संकल्प हमारा?
अमर नहीं है धरती पर जीवन की धारा।

देखूँ कब तक भाग्य और विपरीत रहेगा?
आखिर कब तक भार दुखों का और बढ़ेगा।
छिपकर चलूँ विजन में प्राण विसर्जित कर दूँ,
मिटकर स्वयं राज्य कुल का संकट-वट क्षर दूँ।'

दो जन्मों से अम्बा का मन अति अशान्त है
धधक रहे हैं प्राण बुद्धि की प्रगति भ्रान्त है।
घोर निराशाओं से पूरित हृदय प्रान्त है,
सकल दुखों का एक अन्त बस जीवनान्त है।

निश्चित कर निज प्राण त्याग, चल पड़ा शिखण्डी,
ओढ़े लज्जावरण जा रही ज्यों रणचण्डी।
सघन घोर गम्भीर निशा सूने वनपथ पर,
मन्द समीरण शान्त वनस्थल भद्र भयंकर,

दृग अवरोधक अन्धकार मानो भय विस्तृत,
तमःस्नात निर्जन तरुपादप अविचल चित्रित।
सकल मोह से मुक्त जा रहा जैसे त्यागी,
या कोई अविमुक्त मृत्यु का हो अनुरागी।

कोई सिंह व्याघ्र भक्षण कर ले तो अच्छा,
डस ले व्याल कराल प्राण हर ले तो अच्छा।
चिन्तन करता रहा शिखण्डी निर्जन वन में,
जन्म जन्म बस मिली उपेक्षा ही जीवन में;

किन्तु चाहकर मृत्यु किसी को कब मिल पायी,
अनचाहे ही सदा सभी को लेने आयी।
वह न किसी से भेदभाव करती है तिलभर,
अवसर पाते उठा गोद में लेती सत्वर;

किन्तु न जब तक चुक पाता है जीवन-खाता,
तब तक नहीं मृत्यु का अंचल है मिल पाता।
लिये मृत्यु की प्रबल कामना उर अन्तर में,
निकल गया अतिदूर शिखण्डी वन प्रान्तर में।

देखी गुफा-विशाल अप्रतिम पर भयकारी,
साधन से सम्पन्न शून्य जीवन-सी भारी;
किन्तु उसे भय कैसा वह आया है मरने,
लगा उसी में बैठ शिखण्डी जप-तप करने।

अविचल बैठा रहा अन्न जल त्याग चुका था,
मोह भंग कर जीवन से वह जाग चुका था।
स्थूणाकर्ण यक्ष की है यह गुफा मनोहर,
लौटा है जो कई दिनों के बाद घूमकर।

देखा तो आश्चर्य चकित रह गया एक क्षण,
'मेरे पीछे कौन पधारा पुरुष विलक्षण?
ध्यानमग्न है शान्त स्निग्ध सुकुमार कुँवर है,
यौवन में तप हेतु हुआ उद्यत क्योंकर है?

सम्भव है जग जाल काल से ग्रसित हुआ हो,
मानवीय दुर्भाव द्वेष से ज्वलित हुआ हो।
कोमल हृदय यक्ष का करुणा से भर आया,
जाग उठा सद्भाव स्नेह अंचल लहराया।

खोले नयन शिखण्डी ने था यक्ष सामने,
सोचा शायद सुन ली मेरी व्यथा राम ने,
किन्तु यहाँ तो दृश्य हो गया उलटा सारा,
चीर मृत्यु का हृदय बह उठी जीवनधारा।

बोला यक्ष 'कुमार किसलिए तप करते हो?
सोनल यौवन कलश अग्नि से क्यों भरते हो?'
'यक्ष! नहीं हूँ मैं कुमार, मैं हूँ सुकुमारी,
दुख का कारण कठिन यही है व्यथा हमारी।

आयी हूँ मैं यहाँ सभी कुछ अपना खोकर।'
व्यथा-कथा सब कहीं यक्ष से अपनी रोकर।
'शिखण्डिनी! हो स्वस्थ न कुछ भी अब चिन्ताकर,
चाह रहा हूँ कब से नारी होने का वर,

किन्तु उदित हो सका आज है भाग्य सितारा,
लैंगिक परिवर्तन हो मेरा और तुम्हारा।'
और यक्ष ने शल्यक्रिया का चमत्कार कर,
किये अंग प्रत्यारोपित शिव वचन सत्य कर।

नारी बनकर, शिखण्डिनी को पुरुष बनाया,
पाकर वर पुंसत्व शिखण्डी अति हरषाया।
'यक्ष! कृपा की है तुमने प्रतिकूल समय पर,
शिव का है वरदान सत्य कितना है सुन्दर।

धन्य धन्य हे यक्ष, प्राण से भी हो बढ़कर
क्या मैं दूँ उपहार रिक्त हूँ सब कुछ पाकर।
वचन नहीं टालूँगा मैं जीवन में तेरा
तेरा सबकुछ है, जो कुछ भी जग में मेरा।

तुमने कर उपकार जन्म ही नया दिया है,
मुझे सुधाघट देकर खुद विषकुम्भ पिया है,
कौन भला तेरे समान होगा धरती पर,
जो जीवन का स्वर्णकलश दे दे हँस-हँसकर।

मेरे कारण तुमने अद्भुत त्याग किया है,
जगती को परमार्थ तत्त्व का अर्थ दिया है।
जीवन देकर मुझ अनाथ को तुमने पाला,
और सदा के लिए ऋणी मुझको कर डाला।

चिन्तित हूँ किस भाँति उऋण तुमसे होऊँगा?
ऋण का भार उठाये तन कब तक ढोऊँगा?'
'नहीं-नहीं युवराज! कृपा है यह शंकर की,
मैं तो बना निमित्त प्रेरणा पा अन्तर की।

कर्त्ता, कारण, क्रिया, कर्म सब कुछ ईश्वर है
उसके सिवा कहाँ कुछ भी जग में अक्षर है?
प्रिय युवराज! रूप पर तेरे मोहित होऊँ,
यौवन की धारा में सारा मैंपन खोऊँ;

इससे पहले तात! चले जाओ अपने घर,
जाकर हरो सकल संकट बन समाधान वर।
उदभासित निज पौरुष को सत्यापित कर दो,
माता-पिता श्वसुर परिजन मन हर्षित कर दो।

कटुता मिटे मधुरता की लहराये धारा,
मिट जाये कुल का कलंक सारा का सारा।''
किया यक्ष को नमन शिखण्डी वापस आया,
मानो मरुथल में उन्नत वसन्त लहराया।

सम्भावित संग्राम घोषणा हुई विसर्जित,
मधुर शान्ति के गीत चतुर्दिक थे अनुगुंजित।
नृप हिरण्यवर्मा आनन्दित हुए अपरिमित,
भूल दण्ड को किये अमित उपहार उपस्थित।

शिव का कथन सत्य पाकर सब थे श्रद्धानत,
नहीं मृत्यु का रास, महोत्सव हुआ समुन्नत,
किन्तु शिखण्डी के उर में अब तक थी अम्बा,
धधक रही प्रतिशोध अग्नि की देह प्रलम्बा।

जलता रहा द्वेष दावानल से उर-अन्तर,
और प्रखर हो उठा धरा से होकर अम्बर।

● ●

卐

घिरी है यद्यपि ऋतु हेमन्त
धधकता रक्त किन्तु चहुओर,
मन्द हो गया भानु का तेज
ज्वलित है रण का यौवन घोर,
ले रहे लघुता दिवस विशेष
निशा का बढता जाता राज,
चढ़ रहा जीवन रण की भेंट
हँस रही मृत्यु सजाये साज।

卐

10

कुरुक्षेत्र

यही है कुरुक्षेत्र विस्तार,
काल का मुख विकराल कराल,
रक्त से स्नात समग्र विशेष
रक्तपायी-सा विषधर ब्याल।

इसी ने माँ के अंचल लूट
जलाये सिन्दूरी सुकुमार,
रक्त का शुष्क मरुस्थल हाय!
पी गया यौवन की रसधार।

यहीं पर रणचण्डी ने झूम
मृत्यु के साथ किया था रास,
याद कर जिसकी अब तक हाय!
प्रकम्पित होता है इतिहास।

अस्त्र-शस्त्रों का रक्तिम खेल
देख वीरों का शौर्य प्रताप-
राजवंशों के बुझते दीप,
उजड़ते जीवन बढ़ते पाप।

धधकते हुए रक्त के साथ
खड्ग का यौवन झुलसा खूब,
पानकर शोणित धार अपार
हुई अरुणाभ हरित कुल दूब।

व्यग्र हो सरस्वती की धार
मौन हो हुई भूमिगत हाय!
बचा जीवन को सकी न रंच
हो गयी सकल भाँति निरुपाय

यही है वह धरती दिग्भ्रान्त
बुद्धि के कर देकर तलवार,
कटाती रही शीश पर शीश
रक्त में करती रही विहार।

युयुत्सा की जननी साह्लाद
जगा देती विद्वेष अनन्त,
पान कर उष्ण रक्त की धार
विहँसकर करती जीवन अन्त।

कराया इसने जगत प्रसिद्ध
'महाभारत' का भीषण युद्ध,
मिटाये कुल के कुल संभ्रान्त
हुए अपनों से अपने क्रुद्ध।

स्वयं मैं, द्रोण, विदुर धर्मज्ञ
नीति के ज्ञाता न्याय प्रवीण,
युद्ध का ज्वार न पाये रोक
मिट गये सारे धर्म धुरीण।

बढ़ी कटुता फिर कभी घटी न
मनाकर हार गये यदुवीर,
हो गये हाय! विवश निरुपाय
मृत्यु से घिरकर लाखों वीर।

बज उठा कुरुक्षेत्र में शंख
कर उठे धनुष घोर टंकार,
बाण से पूर्ण हुए तूणीर
जग उठी फिर प्यासी तलवार।

धरा के धधक उठे सब अंग
युद्ध की ज्वालाओं के बीच,
कलेजा मुँह को आता, देख
विवश अपने दृग लेती मींच।

सुलगती देख मनुजता बेल
नयन ऋतुपति के बने प्रपात।
हो चुकी धर्म ज्योति छविहीन
सहे कब तक अधर्म के घात?

खड़ा मैं सघन रणस्थल मध्य
युद्ध के दशम दिवस साभार,
पौत्र वध का संकल्प-विकल्प
हृदय में करता घोर प्रहार।

हाय! अपने शिशुओं के शीश
किस तरह काट सकेंगे बाण?
उन्हीं पर कैसे करूँ प्रहार
दिया निशि दिवस जिन्हें सन्त्राण?

नियति! तू भी है कितनी क्रूर
कराये कैसे कैसे कर्म
धर्म है कभी कराया और
कराया तूने कभी अधर्म।

चाह तू, वही करेगा जीव
समझ पाया है तुझको कौन?
कर्म में मेरे क्या है और
बता दे वह भी, क्यों है मौन?

मोह से चिपका रहा सदैव
भार रक्षा का सिर पर धार
रहा अपनत्व प्रियत्व विशेष
पाण्डु पुत्रों के प्रति समुदार।

सदा संगति अधर्म की हाय!
रही करती विवेक को क्षीण,
जानकर भी मैं था अनजान
दे सका उचित न उनको नीड़।

हाय तृष्णे! तूने सब धर्म
धूल में मिला दिया, स्वच्छन्द-
प्रगति ने तेरी किया अनर्थ,
अहर्निश कर मुझको मतिमन्द।

राजकुल रक्षण धर्म विशेष
रहा उर-मन्दिर में अविराम,
न्याय से वंचित रहा सदैव
घटाया तैतिक बोध अकाम।

आज फिर भी मैं लेकर शस्त्र
खड़ा हूँ मर्यादा को भूल,
सींचता रहा जिसे दृग मीच
जलाने को उद्यत वह मूल।

जहाँ से सका न कोई लौट
खड़ा हूँ अब मैं ऐसे छोर,
इधर जाऊँ तो संकट घोर
उधर जाऊँ तो संकट घोर।''

''अरे हो सावधान रणधीर!
कर रहा चिन्तन क्योंकर व्यर्थ?
काल हूँ तेरा मुझको देख
वही मैं अम्बा हुई समर्थ।

तुम्हारा चिन्तन दुविधापूर्ण
करूँगी मैं पलभर में क्षार,
मृत्यु का विस्तृत शीतल अंक
तुम्हारा यही शेष अधिकार।

व्यक्त कर लो सब अन्तिम भाव
हृदय में रहे न कुछ भी शेष।
मिटा लो दुःख-दाह-दुर्भाव,
द्वेष से जन्मे क्लेश विशेष।

नष्ट कर तेरे उर के दाह
भरूँगी अपने उर में शान्ति।
हो सकेगी अब शीतल शीघ्र
धधकती मेरे उर की क्रान्ति।

करूँगी हल्का सब मैं आज
कई जन्मों का पीड़ा-भार,
पूर्ण कर लूँगी निज प्रतिशोध
बाण कर तेरे उर के पार।

नष्ट कर मेरा जीवन हाय!
मिली है तुम्हें कभी क्या शान्ति?
खिसकती रही रेत-सी उम्र
त्रासती नैतिकता की कान्ति।

''कौन तुम मृदुभाषी सुकुमार
शिखण्डी अम्बा के प्रतिरूप,
खड़े हो कुरुक्षेत्र के मध्य
नहीं है जो तेरे अनुरूप।

अरे! यह वीरों का रणक्षेत्र
शिखण्डी! निकल यहाँ से भाग।
यहाँ सावन की कहाँ फुहार
बरसती दग्ध मृत्यु की आग।

यहाँ पर वीरों का सम्मान
अस्त्र-शस्त्रों से करते वीर।
रक्त की धाराओं में डूब
निकलते प्राण हृदय को चीर।

अभी शायद तुझमें प्रतिशोध
शेष है दो जन्मों के बाद,
याद है मुझको भी सब दृश्य
तुझे भी अब तक सब कुछ याद।

काल की धारा को सब सौंप
हो सका हृदय न अब तक मुक्त;
तुम्हारा हो या मेरा मौन
अग्नि की ज्वालाओं से युक्त।

देख तेरा संकल्प अटूट
प्रतिज्ञा है मेरी नत भाल,
धन्य तू धन्य शिखण्डी! धन्य
हाथ तेरे है मेरा काल।

कर चुका हूँ मैं प्रण सविवेक
दीन अबला निःशस्त्र समक्ष,
नहीं लूँगा मैं कर में शस्त्र
मिटा दे भले मुझे प्रतिपक्ष।

चलाओ चाहे जितने तीर
खुला है मेरे उर का द्वार,
भेदकर मेरा कवच अभेद
करो खण्डित साँसों का हार।

चाहता मैं भी हो अब पूर्ण
तुम्हारा संकल्पित प्रतिशोध।
पूर्ण हो जाये जीवन युद्ध
सहा जीवनभर घोर विरोध।

उपेक्षा अपमानों के रत्न
सहेजे कोष हृदय का कक्ष,
रहा मर्यादा से आबद्ध
दिखाता किसके हाय! समक्ष?

रही उर-अन्तर जलती आग
बुझी तिलभर न कभी दिन-रैन,
उम्रभर छायी रही अशान्ति
पा सका कभी न पलभर चैन।

हो गयी जीवन इच्छा क्षीण
ढो रहा फिर भी अब तक देह,
सूखकर भी न मिट सका हाय!
हृदय से चिपका मेरे नेह।

शिखण्डी! तुझे देखकर आज
जगी है मेरे मन में आस,
धरा का अविजित नर कंकाल,
विजित हो पायेगा अवकाश,

क्योंकि है वीर न ऐसा एक
कर सके जो मेरा संहार,
प्राप्त वर इच्छा-मृत्यु विशेष
कवच मेरा जीवन आधार।

मिल सका मुझे न कोई वीर
यही है मुझको अब तक खेद,
तीर हैं बस अर्जुन के तीक्ष्ण
कवच जो मेरा सकते भेद।

तुम्हारे दुर्बल कोमल तीर
व्यर्थ हैं सकल हाय! निरुपाय,
निभाएँगे पर अपना धर्म
करेंगे मेरा मरण उपाय।''

आ गया अर्जुन का रथ तीव्र
मानसिक द्वन्द्वों को कर भंग,
शिखण्डी को आगे कर शीघ्र
चल पड़ा द्वारकेश के संग।

शिखण्डी का सोनल रथ भव्य
श्वेत अश्वों से अति छविमान,
दुशाला रेशम का सुकुमार
खड़ा ओढ़े रथ पर द्युतिमान।

कवच से हीन रथी को देख
भीष्म ने सोचा यह क्या चाल?
शिखण्डी सबसे आगे आज
आ गया शायद मेरा काल।

अरे! यह तो नारी है पूर्ण
और नारी से करना युद्ध
आचरण ऐसा करना हाय!
धर्म के मेरे घोर विरुद्ध।

आह मैं कैसे करूँ प्रहार
छुअन जिसकी है अब तक याद,
गूँजते रहते हैं वे शब्द
हृदय में बने अखण्ड निनाद।

किया था मुझको लज्जित घोर
किन्तु मैं बना रहा निर्लज्ज,
आज भी अस्त्र-शस्त्र रथ पास
खड़ा है फिर से वही सलज्ज।''

भीष्म के लिए शिखण्डी
वीर नहीं है नारी है सुकुमार,
गिर गया प्रत्यंचा से बाण
देखकर हृदय हुआ साभार।

रह गये दृग अनिमेष अवाक्
शब्द की सीमाओं से दूर
बहुत पलटे अतीत के पृष्ठ
दृश्य देखे असंख्य भरपूर।

"शिखण्डी! तूने किये प्रहार
याद के तीरों से भरपूर,
तीर आये हो लेकर तीर
वेष से तो लगते हो शूर।"

शिखण्डी करने लगा प्रहार
पितामह को कर अपना लक्ष्य,
किया जिसने भक्षण भरपूर
बन गया आज वही है भक्ष्य।

पितामह के संरक्षित अंग
भेद पाया न एक भी तीर।
धनंजय ने असंख्य शर मार
जगा दी अंग-अंग में पीर।

भीष्म शरबिद्ध हुए सर्वांग
घोर पश्चात्तापों के बीच,
वेदनाओं के संकुल मध्य
लिये थे क्षणभर को दृग मींच।

पितामह शरशय्या पर आज
गिरे होकर अधीर व्रणवन्त,
प्रतीक्षित अम्बा का प्रतिशोध
पूर्ण हो गया, कि युग का अन्त।

आज अम्बा के उर में शान्ति
कर उठी फिर से नूतन रास,
एक क्षण अधरों पर कर नृत्य
खो गया कहाँ न जाने हास?

साध मन की तो कर ली पूर्ण
किन्तु क्या यही लक्ष्य था मूल?
मूल को अपने क्योंकर भूल
किये सब कर्म धर्म प्रतिकूल।

स्वार्थ की सिद्धि हेतु दिन-रात
गँवाए हीरक जन्म अमोल।
न जागी आत्मोत्थानिक दृष्टि
दिया किसने मन में विष घोल?

धर्म! यह कैसा अक्षय द्वेष
रहा मन में भरता सन्ताप।
कर सके क्योंकर नहीं सचेत
क्षमा बन उर-अन्तर में आप?

युद्ध की शक्ति प्राप्त की किन्तु
क्षमा का बल न पा सका रंच;
वनों में भटका सहकर कष्ट
रचे मन के अनुकूल प्रपंच।

प्राण में बनकर अभिनव ज्योति
जगाओ ज्ञान-भक्ति-सत्कर्म,
आ गया हूँ मैं तेरे द्वार
क्षमा करना हे मेरे धर्म!

••

卐

यादों की वीथियाँ सघन क्यों होती ही जाती हैं,
तमसाविल अतीत गह्वर में मन को भरमाती हैं।
बार-बार मन हरिचरणों की ओर खींच लाता हूँ,
किन्तु मोह के महाकाश से निकल नहीं पाता हूँ।
धर्म! तुम्हारा प्रश्न गूँजता अब तक मेरे मन में,
आखिर क्यों सन्यास घटित हो सका नहीं जीवन में?
अरे! कौन तुम महाशून्य में किससे क्या कहते हो?
रहकर सबके साथ सभी से दूर-दूर रहते हो।
'मैं हूँ काल, अंक में मेरे ही जग खेल रहा है;
सुख-दुख जीवन-मृत्यु सभी से मेरा मेल रहा है।'

卐

11

शरशय्या

कौन पुरुष यह कुरुक्षेत्र में मृत्युअंकशायी-सा?
काल हिंडोले पर दोलायित अद्भुत विषपायी-सा।
रक्षित रहा कवच प्रण पहने जग की ज्वालाओं में,
बीता जीवन दग्ध, रंग की नीरस-शालाओं में।

रहे राजप्रासाद प्रेतवन सन्नाटे को धारे,
आत्मवंचना कर पीड़ाओं के सोपान सँवारे।
वीर धनंजय के तीरों पर देवव्रत हैं भारी,
शेष प्राण हैं प्रण से उन्नत मृत्युंजय वरधारी।

रक्त धर्म की धारा-सा पहले तन छोड़ चुका है,
पीड़ित होकर पंचभूत से नाता तोड़ चुका है,
किन्तु मोहवश प्राण अभी तक विलग न हो पाये हैं
गये असंख्य वेदनाओं से हरपल दुलराये हैं।

परितापों में एक-एक आँसू दिन-रात तचा है,
शुष्क मेघ से तप्त दृगों में कुछ भी नहीं बचा है।
''अरे भीष्म! तुम तो अजेय धरती के नर-नाहर हो,
होकर विवश बाण शय्या पर पड़े आज क्योंकर हो?

परिवर्त्तन के सबल करों में सब कुछ पड़ा हुआ है,
बहना उसे अवश्य धार में जो भी अड़ा हुआ है।''
''कौन पृष्ठ खारे अतीत के रह-रह खोल रहा है?
फिर-फिर मेरे मनाकाश पर क्योंकर डोल रहा है?''

मैं अम्बा प्रतिशोध पूर्ण कर फिर मिलने आई हूँ,
नारी हूँ मैं अखिल सृष्टि के कण-कण में छायी हूँ
मेरे बिना वेग जीवन का क्षण भर बह न सका है,
मेरा कर अपमान चैन से कोई रह न सका है।

मैं ही हूँ वह शक्ति योग कर फिर वियोग देती हूँ,
देकर असह वियोग प्राण तक नर के हर लेती हूँ।
देव दनुज, गंधर्व, नाग, नर कोई सह न सका है,
सहता रहा एक तू हर पल अविरल कह न सका है।

जहाँ छलकता रहता हर क्षण पावन जीवन रस है।
वही मनुज तन सकल सृष्टि का अनुपम ज्योति कलश है;
किन्तु ज्योति का कहाँ समादर तुमने कभी किया है?
नेह दान को छोड़ खार उपहार अपार दिया है।

''अम्बे! अब क्या शेष रहा जो शान्ति भंग करती हो,
बचे हुये अन्तिम क्षण में भी क्यों भवभय भरती हो?
मृत्युंजय मैं सूर्य प्रतीक्षा कर ही प्राण तजूँगा,
तब तक यही बाण-शय्या पर हरि का भजन करूँगा।

नहीं-नहीं यह तो पश्चात्तापों के तीर प्रखर हैं,
तन-मन बिंधा हुआ है मेरा पीड़ित हृदयागर है।
कल्पों जैसा एक-एक क्षण जीवन बीत रहा है,
अगणित प्रश्नों की माला-सा धूम अतीत रहा है।

''कौन शिखरिदशना तन्वीश्यामा-सी यह छाया है?
केश राशि उन्मुक्त क्रोध से लिपटी या माया है।
भरी हुई है धुन्ध दृगों में कुछ न दृष्टि आता है,
आखिर तू है कौन बोल मुझसे न हिला जाता है?''

"मैं हूँ अर्जुन प्रिया, पितामह को प्रणाम करती हूँ,
देख, देख कर दशा वंश की मन में अति डरती हूँ।
कुरुकुल का अक्षयवट तृण-तृण होकर बिखर गया है,
शक्ति शिखर वसुधा पर गिरकर कैसा प्रसर गया है?

जिस कुल के रक्षार्थ युद्ध कर तुम कन्याएँ लाये,
जिसके लिए नियोग धर्म के ध्वज थे गये लगाये।
और दिव्य पुत्रों को तुमने था सहर्ष स्वीकारा,
स्वीकारा सर्वस्व; किन्तु निज प्रण को नहीं बिसारा।

जहाँ विशुद्ध वंश की लतिका रह न विशुद्ध सकी है,
आपद् धर्म मरुस्थल में रहती बस थकी-थकी है।
आप शक्तिवट से रक्षण में तत्पर रहे निरन्तर,
और आमरण धर्म निभाया अपना वचन निभाकर।"

"रक्षण करता रहा सदा मैं तेरा सत्य कथन है,
पर अधर्म सामने देखकर किया मौन धारण है।
माता और पिता की आज्ञा पर सदैव दृढ़ रहना,
क्षणिक भावनाओं के कारण पड़ा उम्रभर दहना।

एक धर्म की रक्षा से कितने अधर्म जागे हैं?
इसीलिए नैतिकता के खग जीवन से भागे हैं।
प्रायश्चित की प्रखर बह्नि में हरपल दग्ध रहा हूँ,
बिना घाट की धार जिन्दगी लिए विमुक्त बहा हूँ।

बूँद-बूँद शोणित से मेरे काल कराल कहेगा-
क्यों है शेष रह गया तन में क्या कुछ और बहेगा?
अभी प्रश्न पर प्रश्न खड़े हैं उत्तर शीश झुकाये
हाय! मृत्यु के हाथ अभी हैं नहीं प्राण तक आये।

पंचरत्न प्राणों के कर में लेकर मृत्यु हँसेगी-
मृत्युंजय! अब बोल जीवनी कब तक और चलेगी?
अस्थि मात्र यह तन बाणों की शय्या पर अवलम्बित
कैसे त्याग दिया धरती ने है मन मेरा चिन्तित?"

"पुत्री! एक नदी के दो तट सदा हुआ करते हैं,
धर्म अधर्म समान्तर जीवन में सुख-दुख भरते हैं।
जहाँ धर्म के लिए सघन सन्ताप रहा सहता हूँ,
वही अधर्माचरण देखकर तो भी चुप रहता हूँ।

धर्म अधर्म पिता माता की आज्ञा से बिसराकर,
पालन करता रहा आज तक जीवन दग्ध बनाकर।
काशिराज की कन्याओं का मैंने हरण किया था।
कैसा धर्म विरुद्ध घोर मैंने आचरण किया था।

और युगल कन्याओं का बेमेल विवाह कराया,
सुधाकांक्षिणी कोमलांगियों को विषकुम्भ पिलाया,
अम्बा के उस साहस को मैं भूल नहीं पाया हूँ,
जिसके कारण शरशय्या पर मृत्यु निकट आया हूँ।

उसके नम्र निवेदन कोमल, और वचन मर्मान्तक,
गूँज रहे हैं जीर्ण-शीर्ण मेरे उर अन्तर अब तक।
करता भी क्या विवश, बँधा निज प्रण से अकुलाता था,
होकर सर्वसमर्थ धर्म के भय से रुक जाता था।

निर्ममता से अपने को अपना ही मार रहा है,
अपने हाथों ही अपना कर नष्ट सिंगार रहा है,
दुर्वल मेरा मोह सृष्टि का कर संहार रहा है,
रक्त निमज्जित कुरुक्षेत्र मुझको धिक्कार रहा है।

अगर चाहता तो बलपूर्वक राज्य विभाजित करता,
कौरव पाण्डव अलग-अलग दो कुल संस्थापित करता,
किन्तु सोचता रहा अभी तो बालक हैं कुरुवंशी,
होकर प्रौढ़ रहेंगे मिलकर बजा चैन की वंशी।

किन्तु अधर्म-बुद्धि दुर्योधन बना रक्त का प्यासा,
पलट दिया उसने कुरुकुल के धर्म धैर्य का पासा।
व्यर्थ हो गयी घोर प्रतीक्षा कौरव पलट न पाये,
आये जब भी पास हमारे तब दुर्वचन सुनाये।

लोभ और तृष्णाओं ने मन बुद्धि भ्रमित कर डाली,
उन्नत होती हुई कुमति ने वंश बेलि क्षर डाली।
अस्त हो गये आशाओं के तारक मन अम्बर में
फँसी हुई है नाव राष्ट्र की प्रलयातुर सागर में।

अब पतवार भार केशव ही लेकर चल सकते हैं,
वे चाहें तो सकल सृष्टि की चाल बदल सकते हैं;
किन्तु सुदर्शन, चक्र सुदर्शन वाले क्या कुछ कम है?
उनकी ही यह सब लीला है वे नितान्त निर्भ्रम हैं।

वे धर्मज्ञ, धर्मधारी, धर्मस्वरूप पावन हैं,
उनकी अमित छविछटा से परिपूरित जड़ चेतन है।
उनके लिए सृजन, पालन, संहार मात्र क्रीड़ा है,
उनमें सुख-दुख, दंश-हास की कहीं न कुछ पीड़ा है।

वे अधर्म अपकार अमंगल का संहार करेंगे,
बढ़ता हुआ भार वसुधा का यथाशीघ्र हर लेंगे।
परिवर्त्तन का चक्रवात अब शीघ्र न रुक पायेगा,
दुराचरण अन्याय पाप सब भक्षण कर जायेगा।

खोले हुए काल मुख अपना अट्टहास करता है,
केशराशि पापों की सिर पर धरे मनुज डरता है।
मैं भी उसी काल के कर की चटनी हुआ पड़ा हूँ,
मृत्यु खड़ी है बाँह पसारे हठ पर किन्तु अड़ा हूँ।

हठ जीवन को खींच कहाँ से कहाँ आज ले आयी?
अरी कुमति! तूने इस मन में कैसी आग लगायी?
जिस शय्या की कोमलता का मैंने किया निरादर,
आज उसी के शाप फलित हो गये तीक्ष्ण शर बनकर।

अन्धकार के शासन ने अन्धेर मचाया भारी,
किन्तु आ गयी अब उसके भी मिट जाने की बारी।
तमःस्नात धृतराष्ट्र किस तरह अपना धर्म निभाता?
जो खुद था आलोक हीन वह क्या आलोक जगाता?

मैं भी दुखी हुआ हूँ सहचर बनकर तमीचरों का,
करता रहा विरोध हृदय के जाग्रत भाव वरों का।''
''अगर पितामह! आप चाहते तो लज्जा बच जाती,
पौत्रवधू सामने आपके यों अपमान न पाती।

धर्मरज्जु से बँधे विवश पति पाँचों देख रहे थे।
देख रही थी मैं सबको सब मुझको देख रहे थे,
किन्तु सभी अपनी जिह्वा पर ताला डाल चुके थे,
काष्ठ मूर्त्ति-से सभी स्वयं को जड़वत ढाल चुके थे।

अगर कहीं सुन आर्तनाद मोहन भी वहाँ न आते,
तो निर्वसन दर्शकर मेरा शायद पितर जुड़ाते।
बोलो-बोलो पूज्य पितामह! मौन हुए तुम क्योंकर?
क्योंकर नहीं कौरवों को तुम सके वहीं दण्डितकर?

रक्षण-भक्षण युगल धर्म यह कैसी विडंबना है?
देख रही हूँ जब से, कुल पर संकट जाल घना है।
कर्म, स्वभाव, काल सबको ही रहता पहचाने है,
अब तक ठाने रहे आप हठ, आज मृत्यु ठाने है।

प्रायश्चित के अश्रु सभी जब तक न विसर्जित होंगे,
छूट वेदनाओं से जब तक प्राण न हर्षित होंगे।"
पटाक्षेप हो गया चेतना फिर से जाग पड़ी थी,
"अरे! द्रोपदी पुत्री शायद मेरे पास खड़ी थी।

व्यथा-कथा सुन कौन अभागों को प्रियत्व देता है?
स्वार्थसिद्धि तक ही यह जग अपनत्व तत्व देता है।
धूमिल होती हुई दृष्टि फिर भी अतीत दर्शित है,
प्रश्नों की वीथिका गतिमती क्षण-क्षण उत्कर्षित है।"

"कौन दृष्टि की धूमिल धारा में यह डोल रहा है?
क्षीणप्राय चेतना को क्यों रह-रह तोल रहा है?
कौन शुभ्रवसना प्रतिमाएँ शुभ शृंगार रहित है?
प्रखर धर्म दृग के आन्दोलित ज्वलित प्रश्न दोलित हैं।"

"पूज्य देवव्रत! अनुजवधू[1] हम तुम्हें नमन करती हैं,
जीवन की अवरुद्ध धार-सी बस चिन्तन करती हैं।
हम दोनों को रुग्ण अनुज के हाथ सौंपकर बोलो-
तुम्हें क्या मिला मेरे स्वर्णिम स्वप्न दग्ध कर बोलो?

हाय! वासना की ज्वाला में किया भस्म निज तन मन,
दिया हमें वैधव्य सिसकता हुआ सुलगता जीवन।
अपहृत होकर हुई उपेक्षित मधुर भावनाएँ थीं,
कुरुकुल के रक्षार्थ नियोगित लज्जित अबलाएँ थीं।

---

1. अम्बिका, अम्बालिका

पुत्रशोक ने हाय! हृदय को खण्ड-खण्ड कर डाला,
पीड़ाओं का क्रूर वंश पग-पग पर हमने पाला।
क्या-क्या नहीं सहा है हमने अपने जीवन पथ पर,
आँसू पीती रही सदा प्रासादों में घुट-घुटकर;

और तुम्हीं हो एकमात्र बस मूल हमारे दुख के,
धूमिल किया हमारा जीवन नष्ट किये दिन सुख के।
कहाँ विलय हो गया तुम्हारा घोष दिगन्त-प्रतापी?
कहाँ गया वह धनुष शक्ति जिसकी थी जग में व्यापी?

कहाँ सो गये तीर, देव भी जिनसे घबराते थे?
कहाँ गया वीरत्व धरा नभ जिससे भय खाते थे?
आज अजेय देह यह कैसी होकर निबल पड़ी है?
शक्तिहीन हो गया शक्तिधर गिनता घड़ी-घड़ी है।''

''क्षमा देवियो! क्षमा घोर अपराध क्षमा हो मेरा,
माता की आज्ञावश मैंने किया अधर्म घनेरा,
यद्यपि मेरे अपने मन का कोई दोष नहीं है
फिर भी है संलग्न भीष्म बिल्कुल निर्दोष नहीं है।

ज्ञातज्ञात अ़धर्म तीर बन मेरे चुभे हुए हैं,
जीवन की अनन्त पीड़ा के संकुल रुके हुए हैं।
क्षमारूपिणी! क्षमा मुझे कर देना यदि सम्भव हो
जीवन के इन अन्तक्षणों में दूर सकल भयभव हो।

अरे कहाँ खो गयीं पुत्रियाँ मेरे चेतन-पट से,
अम्बालिका अम्बिका के स्वर आये थे आहट से।''

''कौन भद्र यह धूम्रराशि खण्डित करता आता है?
सहज सलोना-सा कुमार, रे! कहाँ इधर जाता है?''
''पूज्य पितामह! नमन, आपने शायद मुझे पुकारा,
मैं अभिमन्यु प्रपौत्र आपका प्रिय हिय खण्ड दुलारा।

मुझ निःशस्त्र वीर पर गिन-गिन सबने वार किये थे,
युद्ध नीति के नियम सभी ने मिल संहार दिये थे,
खड़े-खड़े सब रहे दृगों की ज्वारिल प्यास बुझाते
करते नहीं अगर हत्या तो सुख भी कभी न पाते।

मैंने तो रणमहायज्ञ में निज प्राणाहुति डाली,
गौरवपूर्ण वीर की पदवी इतिहासों में पाली,
और अगर मैं अस्त्र-शस्त्र अपने उस दिन पा जाता,
सैन्य सहित सब वीरों को यम धाम अवश्य पठाता;

किन्तु उसी दिन मेरे षोडस वर्ष समाप्त हुए थे,
इसीलिए घिरकर अधर्म से कालप्राप्त हुए थे।
हाय! महाभारत में छल-बल सबको मिला ठिकाना,
बन्धु बांधवों ने खुद ही खुद को कर लिया निशाना।

पूज्य! आप विष की लपटों का नर्तन देख रहे हैं,
भीतर-बाहर घोर संकटों के शर नित्य सहे हैं।
जिसके जीवन में अनन्त खारों का भार भरा हो,
कैसे उसके उर-सरसी में भाव विदग्ध हरा हो?

अगर चाहते आप धर्म की दुर्गति कभी न होती,
हँसती लक्ष्मी आज हस्तिनापुर की, कभी न रोती,
हाय हाय कर रही धरा नभ थर-थर काँप रहा है।
घोर नाशलीला से यह जग कैसा हाँफ रहा है?

देखो तो किस भाँति दग्ध दृग ऊपर तने हुए हैं
धरती के शृंगार सभी शोणित से सने हुए हैं?
हाय! पितामह! अब न धरा के दर्शन कर पाओगे
किन्तु दूर है व्योम देख लो वहीं कहीं जाओगे।

मैं तो चला समुन्नत होकर वीरोचित गौरव से,
शीघ्र आप भी आ जाओगे छूट घोर रौरव से।
"हे अभिमन्यु! हृदय के टुकड़े जो कह निकल गये हो।
पूर्ण सत्य कह गये वत्स! तुम होकर सफल गये हो।

जाओ मेरे लाल! समुज्ज्वल कीर्ति काल गायेगा,
भारतीय इतिहास निरन्तर तुमको दुलरायेगा।"

× × ×

कौन पुरुष यह निशाअंक में लिपटा जाग रहा है?
मौन हृदय की भाषा में क्या किससे माँग रहा है
निद्रालीन जगत है, पर यह शून्य निहार रहा है,
पड़ा हुआ समरांगण में क्या सोच-विचार रहा है?

'अरे मृत्यु के पथिक! पंथ के चिन्तन में क्यों रत है?
संत्रासक अतीत से आखिर होता क्यों न विरत है?
जीवन की धारा के तट दो धरा और अम्बर हैं,
इन दोनों के बीच जल रही प्राण-ज्योति अक्षर है।

धरा धैर्य गम्भीर और अम्बर है धर्म समुज्ज्वल,
दोनों के ही बीच सदा जीवन पाता है मंगल,
और इन्हीं से भटक मनुज आचरण क्षरण करता है
तो खुद ही दुख, द्वेष, क्लेश सविशेष वरण करता है।

"अरे! कौन तुम मनस्पटल पर नित्य उभरने वाले?
सुख-दुख दोनों से विरक्त अपनी गति के मतवाले।
जीवन शेष हुआ पर तेरा कथन न शेष हुआ है,
धर्म-अधर्म सभी में तेरा सहज प्रवेश हुआ है।

प्रश्नावली पूर्ण प्रस्तुत कर इच्छित उत्तर पा ले,
खड़ी विदावेला समक्ष, हम हैं अब चलने वाले।

''मैं हूँ नियति साथ जीवों के हरपल रहने वाली,
उसके धर्म-कर्म दोनों की करती हूँ रखवाली,
मैं क्या बोलूँ? कुन्ती माद्री का उर बोल रहा है,
अपनी अनगिन पीड़ा के पृष्ठों को खोल रहा है।

उन दोनों के हृदय धधकते रहे हाय! जीवनभर,
मनःशान्ति पा सकी न दोनों जीवन में हैं तिलभर।
रहे जानते आप पाण्डु का पाण्डुग्रस्त जीवन है
फिर भी करके ब्याह अधर्माचरण किया श्रीमन! है।

रोग और जीवन का भी क्या दुःखद संयोजन है,
दीपशिखा है एक तरफ आतुर पतंग-सा मन है।
रही ज्योति की स्वर्ण रश्मियाँ मात्र भव्य दर्शन को,
मिलन निषेध रहा करता धिक् यौवन धिक् जीवन को।

रहे देखते सुधाकलश को अधर नहीं छू पाये,
हाय! न जाने कौन शाप लेकर धरती पर आये?
कैसा जीवन मिला, जहाँ पर योग-वियोग जले हैं,
प्रतिबन्धों में कैद काल के हाथों गये छले हैं।

जीवन है पर जीवन की हर धार अग्निपायी है,
मन में पड़ी कामनाओं की लतिका मुरझायी है।
हाय! सुलगता हुआ व्यर्थ यह जीवन है धरती पर,
इससे तो क्षणभर जलकर मिट जाना है श्रेयस्कर।

होकर के सौभाग्यवती दुर्भाग्य रही ढोती है,
बाहर-बाहर हँसती पर भीतर-भीतर रोती है।
उठते हुए ज्वार उर के उर में ही रह जाते हैं
झुके दृगों से अनबोले ही आँसू बह जाते हैं।

पीड़ा की अप्सरा हृदय पर तीक्ष्ण वार करती है,
यौवन की मधुपुरी हाय! सब क्षार-क्षार करती है।
वनवासिन-सा दैन्यग्रस्त वह जीवन रही चलाती,
पीड़ाओं की परिभाषा ही मन को रही बताती।

पाण्डु लोक से छिपे वनों में जीवन बिता रहे थे,
घोर विवशताओं को अपनी जग से छिपा रहे थे,
हे गांगेय! तुम्हारे कारण दो जीवन झुलसे हैं,
कुरुकुल की छाया में आकर कभी न जो विलसे हैं।

रुग्ण और निर्वीय पुत्र क्यों मुझसे ब्याह दिया था?
एक नहीं दो-दो कन्याओं को दुख दान किया था।
फिर नियोग फिर फिर नियोग यह कैसा योग बना है?
वीर वंश में सन्तति-संकट छाया रहा घना है?''

''ओ अनाम! अविराम आपका तिल-तिल सत्य कथन है,
कैसा है दिग्भ्रान्त सकल अविरल अशान्त जीवन है?
ममता दया और करुणा मुझमें भी रही निवस है,
किन्तु धर्म से बँधी हुई नीरस है और विवश है।

रहा जानता सब कुछ फिर भी कुछ भी कर न सका मैं,
मोह-निशा में फँसे न्याय की पीड़ा हर न सका मैं।
शेष कर्म भोगने हेतु ही मैं अब तक जीवित हूँ,
जूझ रहा हूँ सतत मृत्यु की पीड़ा से पीड़ित हूँ।

देना मुझको और दण्ड जो कुछ भी शेष रहा हो,
बह जाने दो उसे हृदय से जो अब तक न बहा हो;
सर्वमान्य है न्याय तुम्हारा जग के न्याय विधाता!
वही कर रहा है सचराचर जो कुछ तू करवाता।

मैं तृण हूँ, उठता-गिरता उड़ता प्रवाह में तेरे,
मेरे भाव-कुभाव-स्वभाव कहाँ हैं रंचक मेरे।
तू ही सर्वसमर्थ एक भूमा तू व्याप्त निखिल है,
ज्योतिष्मती छटा है तेरी सकल सृष्टि रश्मिल है।

तेरा इंगितमात्र कर रहा सर्जन और विसर्जन,
मृण्मय-चिन्मय का मनोज्ञ संगम है भू का जीवन।
सृष्टि शिरोमणि मनुज तुम्हारी सर्वोत्तम रचना है,
सृष्टिधर्म से समुद्भूत नर, नर से धर्म बना है।

विविध रूप धर धर्म सृष्टि का संचालन करता है,
आकर जीवन को पावन से भी पावन करता है।
श्रद्धा-प्रज्ञा भंग देखकर धर्म रुग्ण होता है,
धर्म रुग्ण होने पर जर्जर ज्ञान बहुत रोता है।
ज्ञान मुझे भी दिया आपने किन्तु धर्म जर्जर कर,
इसीलिए मैं रुक न सका कौरव-संरक्षण पथ पर।''

× × ×

क्षत्रिय की प्रिय युद्धभूमि! तूने उपकार किया है,
जगत उपेक्षित देवव्रत को स्नेहिल अंक दिया है।
मैं तो तेरा पुत्र युद्धरत रहा सतत जीवन भर,
आज शान्ति पा रहा, देह नश्वर तुझको अर्पित कर।

सदा धधकते शोणित से तेरा अभिषेक किया है,
बार-बार अरिशीश काट तुझको उपहार दिया है;
किन्तु क्रोध की ज्वाला में कितने निर्दोष जले है?
उजड़े हुए सुहाग देख कब दृग में अश्रु ढले हैं।

सदियों की उन्नति क्षणभर में युद्ध निगल जाता है,
स्वर्ग समृद्ध धरित्री पर मरघट-सा ढल जाता है।
किन्तु युद्ध के बिना सन्तुलन कब हो सका धरा पर,
युद्ध धर्म की ज्योति जगाता सकल अधर्म मिटाकर।

युद्ध सृष्टि का घटक सूक्ष्म, संचालित ही रहता है,
पल प्रतिपल यह काल युद्ध के निर्झर-सा बहता है।
युद्ध हीन जीवन क्या जीवन मृतक समान बना है,
जहाँ समस्याओं का रहता सघन वितान तना है।

कैसा है यह संविधान? कैसी विचित्र माया है?
मुझ अज्ञानी का मन कुछ भी समझ नहीं पाया है।''

× × ×

प्रथम प्रहर है, निशा मौन घन तम के उगल रही है,
यत्र-तत्र शब्दों के गुंजित खग दल निगल रही है।
जलती हुई मशालें मानो क्षीण चेतना-सी है,
लिपटी हुई सघन तम में निरूपाय वेदना-सी है।

राजवंश का खण्ड-खण्ड होकर तन पड़ा हुआ है,
भीगा हुआ रक्त से बिखरा यौवन पड़ा हुआ है।
चाट-चाटकर रक्त किलोलें करते उल्लू दल हैं,
सन्-सन् करती हुई मृत्यु भी घूम रही अविरल है।

देह-सीप को छोड़ प्राण के मोती खिसक रहे हैं,
बिखरे हुए सिरों पर तम के पाहुन सिसक रहे हैं।
मृत्यु-सर्पिणी जीवन-मणि को निगल अकाल रही है,
लूट प्राण-घन विकल मही को कर कंगाल रही है।

कौन धार में तम की अविचल पड़ा कराह रहा है?
शुष्क दृगों से देख काल की अपलक राह रहा है।
ऊपर शून्य अनन्त व्योम के दृग झिलमिला रहे हैं,
या धरती को देख-देख तारक खिलखिला रहे हैं।

घोर वेदना की शय्या तम की झीनी चादर है
सकल चेतना हीन अंग, पर जीवित चिन्तन वर है।
दिशा-दशा जीवन की फिर-फिर घूम-घूम आती है,
अस्थिमात्र देवव्रत को रह-रह कर झुलसाती है।

''अरे कौन यह देवि पूर्णिमा का पट ओढ़ खड़ी है?
क्यों दृग से झर रही मौक्तिकों की अनमोल लड़ी है?
स्नेहांचले! मौन को तोड़ो दुखी हुई क्योंकर हो?
पुण्यात्मा हो कौन परम पावन हो दिव्याक्षर हो?''

''देवव्रत! मैं सत्यवती माता दुर्भाग्यवती हूँ,
पुत्र निरंकुश बना वंश में दुख की उद्गात्री हूँ।
सत्ता की लिप्सा ने जीवनधन को व्यर्थ किया था,
बाँध तुम्हें दृढ़ प्रण से मैंने घोर अनर्थ किया था।

पुत्र हीन हो तप्त हृदय ने तुम्हें बहुत समझाया,
किन्तु धर्म को छोड़ राजसिंहासन तुम्हें न भाया।
पुत्र! अगर मेरी आज्ञा का पालन तुम कर पाते,
तो हस्तिनापुरी में ऐसे दुर्दिन कभी न आते।

देख-देख यह महानाश छाती फटती जाती है,
पौत्र-प्रपौत्रों की हत्या से आत्मा अकुलाती है।
पुत्र! अगर तुम राजमुकुट को एक बार सह पाते,
तो न रक्त के पर्व भयंकर कुरुक्षेत्र में आते।

खुले व्योम के तले न तुम भी शरशय्या पर होते,
होकर अश्रु विहीन वंश के दृग भी कभी न रोते।
आज हस्तिनापुर की गोदी क्षण-क्षण उजड़ रही है,
मृत्यु-रूपसी निर्ममता से जीवन जकड़ रही है।

नारी का अपमान मान्य कुल में जब भी होता है,
तो वह कुल अभिशप्त तप्त होकर सदैव रोता है।
उन्नत होकर कलह शान्ति जीवन की हर लेती है,
असहनीय वेदना-गरल प्राणों में भर देती है।

मान यथोचित नारी का कुरुकुल भी कर न सका है।
संस्कारित आचरण सुधारस उर में भर न सका है,
इसीलिए अभिशप्त हो गया सारा का सारा कुल,
अट्टहास कर रहा घेरकर महा दुखों का संकुल।

कुरुकुल के आलोक शिखर आधार तुम्हीं थे अनुपम
नीति न्याय-अध्यात्म-धर्म-बल-विक्रम-प्रण के संगम।
किन्तु शक्ति का सदुपयोग घर में न कभी कर पाये,
जाने किस भय से जीवनभर रहे मौन अपनाये।

आज तुम्हारा मौन प्रबलरण का आह्वान बना है,
कुरुक्षेत्र ही नहीं राष्ट्रकुल लगता रक्तसना है।
खड्गधार पर खड़ा सकलकुल रक्तपिपासु बना है,
शून्य हो गया है विवेक अविवेक अखण्ड घना है।

धर्ममूर्त्ति कर्तव्यनिष्ठ बस पाण्डव शेष रहे हैं,
शेष पुत्र सब मृत्युधार में समझो पुत्र! बहे हैं।
देना शुभ आशीष पाण्डवों को, कुल हो अक्षर वर,
पालन करते रहें धर्म का अपने, वसुन्धरा पर।''

सत्यवती खो गयी कहीं रजनी में इतना कहकर,
चौंक उठे देवव्रत लेकिन हिल न सके थे तिलभर।
''माता! मुझ-सा कौन अभागा होगा सुत धरती पर,
इतना हूँ निरुपाय छू सका चरण न तेरे निज कर।

माता! तू पवित्रता में गंगा से भी बढ़कर है,
तेरी मधुर ममत्वधार चिरजीवी है अक्षर है।
माता! करना क्षमा मुझे मैं दीन-हीन बालक हूँ,
आज्ञा तेरी टाल शुष्क निज प्राण का अनुपालक हूँ।

माता! तेरी आज्ञा को स्वीकार अगर कर लेता
तुझको देता सुख अनन्त पर जगत मुझे दुख देता
दुख पाया है तूने तो मैंने भी गरल पिया है
सत्य कह रहा क्षण भी मैंने सुख से नहीं जिया है।

और आज भी स्वर्ग मोह बस पीड़ा भोग रहा हूँ,
प्राण उत्तरायण में छूटे चाह सुयोग रहा हूँ।
मृत्यु खड़ी है पास हमारे पर मैं भाग रहा हूँ,
सौम्य गोल में आये दिनमणि यह वर माँग रहा हूँ।

व्यर्थ विशेषण मृत्युंजय का मुझसे जुड़ा हुआ है,
जबकि मृत्यु की ओर प्रतिक्षण जीवन जुड़ा हुआ है।
टेर रही है मृत्यु हृदय की साँकल बजा रही है,
सुप्त अतीत, काल को मेरे क्षण-क्षण जगा रहा है।

× × ×

"कौन मन्द शीतल फुहार इस ओर बढ़ी आती है,
छाये हुए सघन तम में शुचिता-सी लहराती है।
मेरे शुष्क दग्ध अंगों पर स्नेह सजाने वाली,
आखिर तुम हो कौन मौन अपनत्व जगाने वाली?"

"मैं गंगा हूँ पुत्र! तुम्हारे दर्शन को आयी हूँ,
दशा तुम्हारी देख आज मैं तो अति घबरायी हूँ।
पुत्र! एक प्रण-धर्म ओढ़ तुमने कर्तव्य निभाया,
कोई कुछ भी कहे जगत ने तुमसे गौरव पाया।

तुमने मेरा मान बढ़ाया अपना धर्म निभाकर
धन्य हो गयी है यह गंगा तुझ-सा सुत उपजाकर।
औरों के हित सदा जुटाता रहा सुखों के साधन,
किन्तु स्वयं के लिए कभी कुछ भी न किया मनभावन।

रक्षक सतत अखण्ड राष्ट्र के भक्त वीर बलिदानी,
विश्वयुद्ध के नायक युग के अप्रमेय सेनानी।
हे इतिहासपुरुष! द्वापर के धैर्य धर्म अधिकारी।
देवभूमि पर तुमने ही ऊर्जा अभिनव संचारी।

तेरी उज्ज्वल धवल कीर्त्ति युग-युग तक जग गायेगा,
हो न महाभारत धरती पर सबको समझायेगा।
गर्व करेगी लहर लहर गंगा तेरा वाचन कर,
पायेगी सन्तोष शान्ति माता तेरा वन्दन कर।

पुत्र! तुम्हारी तरह कठिन प्रण मैंने भी पाला था,
सौंप काल को सात पुत्र पत्थर उर पर डाला था।
माता के हित सुत से बढ़कर कहीं न कोई धन है,
सुत विहीन माता धरती पर सकल भाँति निर्धन है।

वचनबद्ध हो विवश पुत्र निज दिये काल के मुख में,
रही डुबोती बार-बार मैं जीवन, सागर दुख में,
परमतत्त्व की धार वचन की सीमा तोड़ न पायी,
भीतर-भीतर रही सुलगती बाहर धधक न आयी;

किन्तु जन्म जब हुआ तुम्हारा फिर ममता ललचायी,
और भंग प्रण करने को दृढ़ बन्धन बनकर छायी,
प्रखर धर्म ने मोह ध्वस्त कर सत्वर मुझे जगाया,
घिरते हुए हृदय के तम को क्षण में दूर भगाया।

पुत्रशोक को किन्तु तुम्हारे पिता नहीं सह पाये,
और तुम्हारी रक्षा को वह मेरे पीछे आये-
बोले–प्रिये! एक तो दीपक कुरुकुल का रहने दो,
मत अवरुद्ध करो इस कुल की धारा को बहने दो।

फिर क्या था मैं तुम्हें छोड़कर लीन हुई धारा में,
कभी नहीं बन सकी ज्योति मैं कुरुकुल की कारा में।
तेरे कारण ही शान्तनु ने सत्यवती को पाया,
भोगलिप्सु नृप ने तेरे जीवन को राख बनाया।

भाग्यवन्त नृप शान्तनु थे मैं तो दुर्भाग्यवती हूँ
लड़ते हुए मृत्यु से अष्टम सुत को देख रही हूँ।
वे दुधमुँहे अबोले भोले खोल नहीं दृग पाये,
एक-एक कर मैंने अपनी धारा बीच बहाये।

हाय धर्म! तूने मुझसे यह कैसी राह दिखायी?
मेरे ही पुत्रों की हत्या मेरे हाथ करायी।
जलसमाधि शिशुओं की अब तक हृदय विदार रही है,
तब से अब तक धर्म और मुझको धिक्कार रही है।

मेरा नीर धरा का संचित गरल पिया करता है,
पतित-पावनी कहकर यह जग व्यंग्य किया करता है।
सहकर निज अपमान जगत को रहती दुलराती हूँ
अन्न धान्य संस्कृति मनोहरा की देती थाती हूँ।

कर अपना उत्सर्ग लोकहित बनी स्वर्गदाता हूँ,
मेरा शिशु है लोक और मैं अखिल लोक माता हूँ।
माता बनी जगत की मैं तो पहले माता बनकर,
किन्तु पिता बिन बने पितामह एक तुम्हीं धरती पर।

यद्यपि पुत्र और माता का जीवन एक सदृश है,
किन्तु प्रतिज्ञा के पालन में तेरा अधिक सुयश है।
पुत्र! तुम्हारे जीवन से मुझको अति हर्ष हुआ है,
भारतीय पावन संस्कृति का अति उत्कर्ष हुआ है।

धन्य-धन्य हे पुत्र! तुम्हारी सदा सदा जय जय हो,
कीर्त्ति-कौमुदी प्रलयकाल तक उन्नत हो अक्षय हो।
तेरे पावन यश को मेरी लहर-लहर गायेगी,
धन्य धन्य सुत कहकर श्रद्धा ज्योति जगमगायेगी।

× × ×

नीरवता छा गयी भीष्म का कम्पित हृदय विकल था,
दृष्टि घुमाने लगे किन्तु हर एक प्रयास विफल था।
"माता! माता!! ठहरो मैं प्यासा हूँ जीवनभर का,
नहीं पा सका तनिक नीर भी मैं प्रियत्व अक्षर का।

सूख-सूखकर मेरा मुख बन गया मरुस्थल-सा है,
किन्तु न मिली बूँद भी मुझको हृदय रहा जल-सा है।
स्नेहधार से आज हृदय की ज्वाला शीतल कर दो,
रीता हुआ प्राणघट मेरा निज ममत्त्व से भर दो।

किन्तु कामना मेरी शायद पूर्ण न हो पायेगी,
तू है निखिल लोक की माता अब न कभी आयेगी।
क्योंकि लोक का पालन करना तेरा धर्म बड़ा है,
मेरे तेरे बीच आज फिर उज्ज्वल धर्म खड़ा है।

मैया! तू भी जग में अपना पावन धर्म निभा ले,
वर्त्तमान कर भस्म भविष्यत उज्ज्वलपूर्ण बना ले।
जीवन-समिधा धर्म-यज्ञ में पड़ सुरम्य होती है,
करती हुई लोकहित जगती में प्रणम्य होती है।

कोटि कुम्भ पीयूष स्नेह पर तेरे न्यौछावर है,
तेरे चरणों के प्रताप की सत्ता अजर-अमर है।
माँ से उच्च पूज्यपद कोई दृष्टि नहीं आता है,
जिसकी छाया में त्रिलोक सुख-शान्ति अमित पाता है।

× × ×

शान्त-निशान्त श्यामपट अपने मुख से हटा रहा है,
अरुण दृगंचल खोल तमिस्रा जग की घटा रहा है।
व्योमाम्बुधि में तारकदल अलसाकर डूब रहे हैं,
रजनी के शृंगार सभी देखो तो बहे-बहे हैं।

तम-प्रकाश दोनों देखो कैसे संगमित हुए हैं,
निज अस्तित्व विसर्जित कर अभिनव से फलित हुए हैं।
धुलने लगा दिशा-मुख तम चरणों में लौट रहा है,
कुछ पल और ठहरने के हित पाँव पलोट रहा है।

और दिवाकर की रश्मिल सेना बढ़ती आती है,
स्वर्ण सुधा वसुधा के अंचल में भरती आती है।
धरती से अम्बर तक विस्तृत है अखण्ड नीरवता,
उषा-सुन्दरी के अंगों से झलक रही कोमलता।

रण की लाली और उषा की मिलकर प्रखर हुई है,
धरती के कण-कण में पड़कर लाली अमर हुई है।
रणचण्डी के अरुण अधर ज्वाला से जगे-जगे हैं,
मतवाली लाली से देखो कैसे रँगे-रँगे हैं?

किन्तु भीष्म के उर की लाली अब कुछ शेष नहीं है,
नीरवता है श्यामलता है और विशेष नहीं है।
क्षत्रिय ज्वाला सतत दग्ध रह गयी कहाँ उरपुर में?
सघन चल रहा है प्रायश्चित नीरव अन्तःपुर में।

एक कामना शेष शीघ्र ही सूर्य उत्तरायण हो,
केशव हों सामने विसर्जन प्राणों का उस क्षण हो।
आखिर कब तक देह धर्म को और पड़ेगा ढोना?
सूना रहा सदा ही मेरे मन का कोना-कोना।

अन्तिम क्षण वेदनाविद्ध हैं आओ तो प्रभु! आओ,
तमःस्नात मन मन्दिर में दर्शन की ज्योति जगाओ।
रहा प्रतीक्षा ही करता पर तृप्ति नहीं मिल पायी,
स्नेह विहीन दिया की बाती है किसलिए जलायी?

एक बार प्रभु! अन्धकार को चीर प्रकाश सजा दो,
एक बार प्राणों में मेरे मुरली मधुर बजा दो।
एक बार खारे अतीत का कुल विस्मरण करा दो,
एक बार इन शुष्क दृगों में फिर प्रेमाश्रु बहा दो।

एक बार पद पंकज पाकर हृदय पवित्र सकल हो,
एक बार फिर प्राण कलश में रूपसुधा निर्मल हो,
एक बार वह रस छलका दो जिससे जग प्लावित है,
मिट जाये सब विरह-व्यथा जो अन्तस में नर्तित है।''

''विरह-व्यथा का हरण मरण के पहले हो न सकेगा,
अभी और कुछ क्षण तक तेरा शापित हृदय दहेगा।
तुम शापित हो भीष्म! तुम्हारा रोम-रोम शापित है,
मरुस्थलीय तुम्हारा जीवन कण-कण अनुतापित है।

औरों को देकर अशान्ति खुद शान्ति चाहने वाले,
पाओगे चिरशान्ति धैर्य को धरो न हो मतवाले।''
''कौन हृदय के शान्तिकुञ्ज में बन अशान्ति उभरे तुम?
कोमलता में कटुता की सिकता से हो बिखरे तुम।''

''वाह! वाह!! चिरपरिचित को भी अब तुम भूल रहे हो,
भूलो भी क्यों नहीं शुष्क सरिता के कूल रहे हो।
मैं अम्बा हूँ तीर-तीर पर तेरे खड़ी रही हूँ,
सजला होकर भी जीवन में तिलभर नहीं बही हूँ।''

''ओ माधुर्य शिखरिणी अम्बा! अपराजिता जगत की,
सूत्रसर्जिका मनुजसृष्टि की प्रियदर्शिनी विगत की।
तूने कर संकल्प पूर्ण कर शान्ति पूर्ण पा ली है,
तेरी प्रतिभा-प्रभा धरा पर अगणित गुणवाली है।

आज प्राण संकट में मुझको देख खिलखिला हँस ले,
परपीड़ा के मधुर स्वाद का चाहे जितना रस ले;
किन्तु नहीं इससे जीवन का अमरतघट पायेगी,
बाल सुलभ चंचलता में ही बीत उम्र जायेगी।

देखा है बस एक पक्ष ही तू ने नर जीवन का,
दुख का दुख ही वापस करना नहीं न्याय है मन का,
दुख पाकर भी जो औरों को सुख बाँटा करते हैं,
वे भवितव्य-कोष में अपने अमित रत्न भरते हैं।

करते हैं परमार्थ स्वार्थ की धरती से जो उठकर,
कालजयी होकर वे ही पाते हैं कीर्त्ति अनश्वर।
नदी धार की नहीं मात्र भू का कटान करती है
रचती है नवद्वीप, अन्न धन से जीवन भरती है।

देकर मधुरिम स्नेह जगत के दूषण हर लेती है,
न दिया है कहता जग फिर भी यह सब कुछ देती है।
संस्कृति को पाला है इसने भीषण गरल पचाकर,
इसीलिए माता कहता जग श्रद्धासुमन चढ़ाकर।

अम्बे! जीवन का अवलोकन ही सर्वांग पठन है,
एक पृष्ठ से नहीं ग्रन्थ का होता मूल्यांकन है।
संकीर्णता विसर्जित कर व्यापकता धारण कर लो,
मन की सघन वासनाओं का स्वयं निवारण कर लो।''

''हे धर्मज्ञ! धर्म का अपने मद न छोड़ पाये तुम,
इसीलिए इस महादशा में अन्तसमय आये तुम।
जितना सुन्दर ज्ञान और के लिए सदैव दिया है,
क्या उसका तृणभर भी पालन तुमने कभी किया है?

ढोता रहा व्यर्थ जो हठ पर हठ अपने जीवनभर,
अब भी वह उपदेश कर रहा मुझको जाने क्योंकर?
देवव्रत! उपदेश सदा सन्तों के प्रिय लगते हैं,
दुनियादारों के मुख से बस शान्ति भंग करते हैं।

कुरुकुल के रक्षण-विस्तारण के आधार तुम्हीं हो,
धवंस हो रहे विमल वंश के सिरजनहार तुम्हीं हो,
किन्तु अगर तुम दण्ड धर्म को निज कर में ले पाते,
तो इस सबल वंश पर संकट के घन कभी न आते।

बनती नहीं द्रौपदी भी सैरन्ध्री निज जीवन में,
और भटकते नहीं पंच पाण्डव भी विवश विजन में,
दुयोधन बाँधवों सहित उद्‌दण्ड नहीं हो पाता,
शकुनी का छल-कपट-तन्त्र क्यों पुत्रों को भटकाता?

क्योंकर होता कपटद्यूत क्यों वंश विभाजन होता?
क्यों होती निर्वसन द्रौपदी क्यों लज्जित मन होता?
व्यर्थ न जाता कभी शान्ति प्रस्ताव कृष्ण का पावन,
और न होता युद्ध, मृत्यु करती क्यों नंगा नर्तन?

डूब रक्त में कुरुक्षेत्र क्यों होता जग में निन्दित,
होकर अरुण अखण्डित धरती होती कभी न खण्डित;
किन्तु तुम्हारे एक मौन ने सबकुछ करवा डाला
भरतभूमि के सुधाकलश में भरी विषैली हाला।

आखिर किसके इंगित से सब सहन रहे करते तुम?
क्यों विराट विध्वंस-यज्ञ का सृजन रहे करते तुम?
''अम्बे! क्यों जड़ता का फिर-फिर व्यर्थ वरण करती हो,
नीरस शिथिल वीण-तारों में विकल राग भरती हो?

तूने जीवन भर प्राणों में नूपुर मधुर बजाये,
किन्तु रहे मर्यादित मेरे प्राण धैर्य अपनाये।
एक ओर सूना-सा जीवन एक ओर कुल रक्षण,
आँगन में द्वेषाग्नि धधकती रही अखण्ड प्रतिक्षण।

एक ओर अधर्म उन्नत था एक ओर विद्वेषण,
शमन प्रयास गया सब निष्फल निष्फल गया स्वरक्षण।
हाय! धर्म का शान्तिदीप भी आशाहीन हुआ है,
होकर स्नेह विहीन क्षीण अति दीन-मलीन हुआ है।

फिर भी है विश्वास मुझे वह सतत अखण्ड रहेगा,
धर्मराज के संरक्षण में प्रखर प्रचण्ड रहेगा;
किन्तु तुम्हारा धर्म सुदृढ़ संकल्प मनोज्ञ करेगा,
अम्बे! तेरा नाम हमारे कारण अमर रहेगा।''

''घायल होती देह स्वस्थ होकर फिर सुख पाती है,
किन्तु विरह की व्यथा हृदय से कभी नहीं जाती है।
जीवन में अभाव जीवन का तुमने सतत सहा है,
प्रण की शिला तोड़कर फिर भी उर निर्झर न बहा है।

करके गुरु पर घात पूज्य गुरुता पर घात किया है,
महत ज्ञान परिणाम व्यर्थ कर तुमने सकल दिया है।
घोर मोह से ग्रसित हुआ जब अर्जुन रण प्रांगण में,
अस्त्र-शस्त्र सब त्याग लगा रोने शिशु सा वह क्षण में।

देख स्वजन परिजन अपनापन मन में जाग उठा था,
रथ में रख गांडीव कृष्ण से आज्ञा माँग उठा था।
"केशव! मैं यह युद्ध कर सकूँ अब सामर्थ्य नहीं है,
करूँ वनगमन सत्वर लगता मुझको उचित यही है।

बन्धु-बान्धवों का शोणित बहता न देख पाऊँगा,
इन्हें मारकर कहो कौन से स्वर्ग पहुँच जाऊँगा?
अस्त्र-शस्त्र मैंने स्वधर्म कुल रक्षण हित पाये हैं,
आत्मध्वंस से तन-मन चिन्तित होकर अकुलाए हैं।

जिनके संरक्षण में पलकर हम सब बड़े हुए हैं,
हाय! उन्हीं के प्राण हरण हित रण में खड़े हुए हैं।
बुद्धि भ्रष्ट हो गयी सकल कुल मरने को आतुर है,
काल अग्नि में स्वयं अन्ध बन चला हस्तिनापुर है।

देखो केशव! गुरुजन परिजन अग्रज मूढ़ हुए हैं,
वंश-ध्वंस के लिए सभी क्यों समरारूढ़ हुए हैं।
रोको! रोको! इन्हें ज्ञान की कुछ तो ज्योति जगाओ,
सघन तमिस्रा उर-अन्तर की कुछ तो दूर भगाओ।

माधव! देखो देशधर्म पर काली घटा घिरी है,
भ्रमित हो गयी है जाने क्यों निर्मल बुद्धि फिरी है;
पूरा का पूरा कुल ही रणयज्ञ हविष्य बना है,
आखिर किस कारण कुरुकुल का मौन भविष्य बना है?

अंग-अंग हो रहे शिथिल मैं खड़ा न रह पाऊँगा,
मुझे सम्हालो कृष्ण! नहीं तो अब मैं गिर जाऊँगा।
''अरे पार्थ! रण में आकर क्यों कायरता करते हो?
कौन धर्म? किसके कारण तुम शिशुओं से डरते हो?

धर्म-बन्धु! तुम नहीं धर्म का मर्म समझ पाये हो,
मात्र पढ़े हो, नहीं आचरण में विवेश लाये हो।
क्षत्रिय का है धर्म युद्ध करना सज समरांगण में,
रहते प्राण न झुके न जाये बनकर निबल शरण में।

रण में लड़ता हुआ वीर मरकर सदगति पाता है,
और भागता शस्त्र छोड़ वह कायर कहलाता है।
पार्थ! इस समय धर्म पंथ से क्यों विचलित होते हो?
अविच्छिन्न निज धर्म तत्त्व को किस कारण खोते हो?

होकर नष्ट यहाँ का सबकुछ पुनः यहीं मिलता है,
किन्तु धर्म मिट जाने पर फिर कभी नहीं मिलता है।
नष्ट करो अज्ञान-मोह जीवन का दुःखद सपना,
उठो धनुर्धर! धनुष उठाओ धर्म निभाओ अपना।

और अगर तुम बन्धु-धर्म से यों ही बँधे रहोगे;
जीवनभर अपमान अग्नि में जलते पड़े रहोगे।
कहाँ गया था धर्म भीम को जब विष दिया गया था?
फेंक नदी में बन्धु-धर्म को अन्धा किया गया था।

कहाँ गया था धर्म, द्रोपदी जब निर्वसन हुई थी?
तार-तार होकर कुल की मर्यादा दमन हुई थी।
कहाँ गया था धर्म, हुआ जब कपट द्यूत आयोजन?
छल से छीना राज, कोष, अधिकार दिया निष्कासन।

कहाँ गया था धर्म, वनों में जब तुम भटक रहे थे?
धर्म पालते हुए कौरवों को नित खटक रहे थे।
अरे! घोर अज्ञातवास की कर्कश कठिन कथाएँ,
भूल रहे क्यों पार्थ! सहीं तुमने अनगिन विपदाएँ?

भूल गये तुम धरा बिछाकर, नभ ओढ़ा करते थे,
भूल गये तुम कंद मूल फल से ही घट भरते थे,
शोषण करते रहे तुम्हारा जो निज धर्म भुलाकर,
आज उन्हीं के लिए जग रही तुममें करुणा क्योंकर?

जहाँ स्वार्थ के सिवा न कोई मूल्य बचे जीवन में,
नैतिकतापद-दलित पड़ी है ज्वलित वंश के वन में,
देखो पार्थ! रणस्थल में सब मृतक समान पड़े हैं,
यहाँ कहाँ कोई जीवित है, धोखे सदृश खड़े हैं?

मेरी सूक्ष्मशक्ति ने सबको चेतना हीन किया है,
भूमिभार हरने को केवल तुमको श्रेय दिया है।
मरजा जीता कभी न आत्मा अजर-अमर अविकारी,
नश्वर देहनाश से क्यों भयभीत हुए धनुधारी!

कर्त्तापन को त्याग धर्म का अपने पालन कर लो,
छोड़ो दुर्बल मोह आत्मपथ का अभिनन्दन कर लो,
देहधर्म बनता मिटता ही रहता है वसुधा पर
किन्तु जीव है अंश ब्रह्म का अमिट अनादि अनश्वर।

देखो सकल सृष्टि मुझमें करती प्रवेश जाती है,
नये रूप के साथ जन्म भी नित्य नया पाती है।
एक अकर्त्ता मैं ही कर्त्ता हूँ ब्रह्माण्ड सकल में,
मेरे सिवा कहीं कुछ भी भाषित न सबल-दुर्बल में।

उद्‌भव पालन और प्रलय सब मेरी ही माया है,
गो-गोचर मन की गति तक सब मेरी ही छाया है।
जो कुछ भी हो चुका, हो रहा और अभी जो होगा,
मेरी ही इच्छा है अर्जुन! वह अच्छा ही होगा।

अतः स्वयं की शक्ति और रणकौशल परम समझकर,
धर्मयुद्ध के लिए बढ़ो जगती के श्रेष्ठ धनुर्धर!

× × ×

रणस्थली के कण-कण ने माधव उपदेश सुना था,
किन्तु पार्थ के सिवा किसी ने उसको नहीं गुना था।
सेनापति अधर्म मण्डल के बनकर बधिर बने तुम,
सुनकर गीता ज्ञान मोह से फिर भी रहे सने तुम।

क्यों न उसी क्षण त्याग मोह मद धर्म शरण में आये?
क्योंकर बन पाषाण ज्ञान की गुरुता समझ न पाये?
हाय! बदलता कैसे पत्थर तो पत्थर होता है,
जब तक पिसता नहीं सघन जड़ता को ही ढोता है।

तुम तो हो जीवनारम्भ से पत्थर से भी पत्थर,
पिघले नहीं कभी करुणा से भरा नहीं उर-अन्तर।
एक कृष्ण क्या कोटि कृष्ण भी तुमको अगर पढ़ाते,
तो भी जाते हार पार वे तुमसे कभी न पाते।

मैंने तो संकल्प धर्म अपना कर पूर्ण लिया है,
शान्त किया प्रतिशोध हृदय को परम विराम दिया है;
किन्तु धर्म कुल के रक्षण का निभा न तुम पाये हो,
स्वयं ध्वस्त होकर भी कुल को बचा नहीं पाये हो।

सफल हुई मैं नारी होकर भी निज व्रत पालन में,
और हुए तुम असफल होकर पुरुष समर्थ सृजन में,
एक शिथिल, दृढ़ एक रहा संकल्प विकृति का फल है,
भीष्म! विरस ही रहा तुम्हारा जीवन विफल सकल है।

शक्ति-शौर्य का सिन्धु उफनता रहा सदा उर-अन्तर,
परिवर्त्तन का ज्वार किन्तु बन सका नहीं वसुधा पर।''
''अम्बे! तेरा बोध सृष्टि के लिए प्रबोध प्रचुर है,
और सबल संकल्प सफलता का श्रीमन्त्र मधुर है।

सुन-सुन भरता रहा अमर गीता को उर मन्दिर में,
किन्तु चिरत्व ढूँढ़ता ही रह गया समग्र अचिर में।
मिलता रहा निरन्तर पर पहचान नहीं मैं पाया,
श्यामलता जब हटी हृदय में तब वह श्याम समाया।

अब मुझको वह निर्विकार माधुर्य पूर्ण लगता है,
जो सबको सबमें रहकर चुपचाप ठगा करता है;
किन्तु वंश का ध्वंस तीर सा उर में धँसा हुआ है,
निकल न पाया मन पीड़ा में ऐसा फँसा हुआ है।''

जाती हूँ मैं भीष्म! मृत्यु की मौन प्रतीक्षा कर लो,
स्वागत करो हृदय से, हँसकर शून्य अंक में भर लो।''
''अम्बे! तूने शून्य हृदय को और शून्य कर डाला,
जाते-जाते चुरा ले गयी उर का शेष उजाला।

तम से भीगे हुए हृदय में कुछ न दृष्टि आता है,
अन्धकार से घिरे शून्य में अब न रहा जाता है।
ओह अकिंचन वित्त! अकिंचन के अन्तस में आओ,
तृष्णाओं से बद्ध मनस को बन्धनमुक्त बनाओ।

होकर विवश मौन हो जाये अब मैं वह आँधी हूँ,
माधव! करना क्षमा तुम्हारा भी मैं अपराधी हूँ,
निज प्रण रक्षण हेतु आपके प्रण को तुड़वा डाला,
मैं अजेय हूँ अन्त समय तक यही दम्भ बस पाला।

अब परन्तु तन, मन, धन, जीवन-सब कुछ हार रहा है,
वासुदेव! यह भीष्म अकिञ्चन तुम्हें पुकार रहा है।

卐 卐 卐
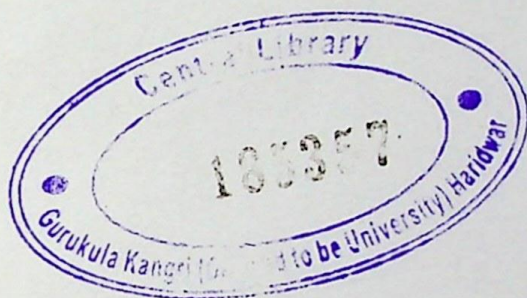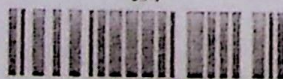
सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश'

स्व. राजरानी एवं श्री श्रीराम शुक्ल के पुत्र श्री सुरेश कुमार शुक्ल 'सन्देश' का जन्म 5 फरवरी, सन् 1972 ईस्वी में उत्तर प्रदेश के जनपद लखीमपुर खीरी की तहसील गोला गोकर्णनाथ में हुआ था। सन्देश जी ने हिन्दी से एम.ए. उत्तीर्ण किया और वर्तमान में राष्ट्रधर्म हिन्दी मासिक के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत हैं।

सन्देश जी ने 5 जून सन् 1993 को हिन्दी के विख्यात नदी महाकवि डॉ. अनन्त जी से काव्य दीक्षा लेकर अपनी साहित्य साधना प्रारम्भ की और अब तक बीस से अधिक कृतियाँ सृजित कर चुके हैं; जिनमें निम्न कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

◆श्री तपेश्वरी चालीसा ◆श्री हनुमत बावनी ◆श्री अम्बा लहरी ◆श्रीराम जीवनम् ◆चाँदनी के घर (हिन्दी ग़ज़लें) ◆धर्म विजय (खण्ड काव्य) ◆सपनों के प्रासाद (दोहा सतसई) ◆जीवन के सोपानों में (हिन्दी ग़ज़लें) ◆गोला गोकर्ण नाथ महात्म्य ◆निर्बन्ध निर्झर (गीत-संग्रह) ◆अनन्त आविर्भाव ◆जय विवेकानन्द (महाकाव्य) ◆मैं मछली हूँ (गीत-संग्रह) ◆अनन्त आविर्भाव ◆जय विवेकानन्द (महाकाव्य) ◆मैं मछली हूँ ◆अमर पुत्र ◆धरती के सपूत ◆मानवता के उपासक ◆आदर्श प्रेरक प्रसंग इसके अतिरिक्त अनेक पुस्तकें प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

सन्देश जी को देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत किया जा चुका है जिनमें साहित्य कला संगम अकादमी प्रतापगढ़ (उ.प्र.) द्वारा विद्यावाचस्पति, भाऊराव देवरस सेवा न्यास लखनऊ द्वारा युवा साहित्यकार सम्मान, शिव संकल्प साहित्य परिषद् होशंगाबाद (म.प्र.) द्वारा भक्तिकाव्य कौस्तुभ एवं काव्य कलाधर, सरिता लोक भारती संस्थान सुल्तानपुर (उ.प्र.) द्वारा साहित्य गौरव, अ.भा. साहित्यकला परिषद्, कुशीनगर द्वारा 'राष्ट्रभाषा रत्न' उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा धर्म विजय खण्ड काव्य पर आनन्दमिश्र सर्जना पुरस्कार। इसके अतिरिक्त अनेक राष्ट्रीय संकलनों एवं देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर रचनाओं का प्रकाशन हो रहा है। साथ ही कई शोधग्रन्थों में भी उल्लेख हुआ है।

मेरा सौभाग्य है कि मुझे सन्देश जी का स्नेहिल सान्निध्य प्राप्त है।

प्रस्तुति-**नीरज कुमार वर्मा**
लखीमपुर रोड, गोला गोकर्ण नाथ
खीरी, उ.प्र. - 262802